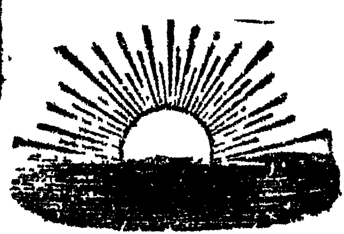
विश्वदर्शन



महात्मा रामरतन थपलियाल

विश्वदर्शन

: रचयिता :

महात्मा रामरत्न थपलियाल (ब्रह्मलीन)

सन् १९६५] ● [संवत् २०२२

प्रकाशक—
विश्वप्रकाश और सत्यप्रकाश थपलियाल,
'हिमालय-लोक-सेवक-मण्डल',
चिलोली आश्रम
पत्रालय—कलजीखाल (गढ़वाल) उ० प्र०

प्रथम संस्करण	—	सन १९३०	—	१०००
द्वितीय संस्करण	—	सन १९३९	—	१०००
तृतीय संस्करण	—	सन १९६५	—	२०००

मूल्य — ६-००

प्राप्ति-स्थान—महात्मा रामरत्न स्मारक समिति,
(१) अध्यक्ष – श्री महन्त घनश्यामगिरि, हरिद्वार।
(२) कोषाध्यक्ष—डा० स्वामी श्यामसुन्दरदास
शास्त्री, साख्य-योग-आयुर्वेदाचार्य,
गरीबदासीय आश्रम, हरिद्वार।

मुद्रक—
श्री देवेन्द्र विज्ञानी,
विज्ञान प्रैस, ऋषिकेश, (उ०प्र०)

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

की

अमर-वाणी

●

पुस्तक 'विश्वदर्शन' आत्म-अनुभव की सत्-शिव-सुन्दरम् वह ज्ञान-गागर है, जिसमें उच्च कोटि के साहित्य का सागर भरा पड़ा है। यह ग्रन्थकार के जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या का ही फल प्रतीत होता है। हमें गर्व है कि भारत के एक सुपुत्र ने ऐसी विलक्षण ग्रन्थ-रचना की है। अब वह समय दूर नहीं जबकि इस मौलिक कृति का विश्व में सर्वत्र आदर होगा।

वास्तव में महात्मा रामरत्न ने 'विश्वदर्शन' लिखकर मानवता का महान् उपकार किया है।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी

का

आशीर्वाद

●

मैं जब मई के अन्त में देहरादून गया, तब 'हिमालय-लोक-सेवक-मण्डल' का निरीक्षण किया। श्री विश्वप्रकाश थपलियाल और उनके साथी जिस निष्ठा से इस संस्था का संचालन कर रहे हैं, उससे मैं प्रभावित हुआ।

वे समस्त प्रोत्साहन और सहायता के सुपात्र हैं।

दिनांक,
२७ अगस्त, १९६५

—लालबहादुर

प्रकाशकीय

आज मेरा यह एक महा यज्ञ पूर्ण हुआ। इसे 'यज्ञ' की संज्ञा इसलिए दे रहा हूँ कि इसकी पूर्ति मे मुझे एक नैष्ठिक व्रती बनना पडा। अनेक कठिनाइयो के बीच ज्ञान कोष का यह तृतीय पुष्प प्रकाशित किया गया है। मुझे जिन विषम परिस्थितियो मे होकर गुजरना पडा, वे इस यज्ञ की पूर्ति म बाधक थी। इसे अपने पूज्य पिता पितामहो का ही आशीर्वाद समझता हूँ कि उन्होने विषम झझावातो मे भी मुझे एक व्रती ही रखा। अन्ततोगत्वा आज यह सकल्प पूर्ण हुआ, उसके लिए मै अपने पितृ-देवो का श्रद्धा-भक्ति के साथ नत मस्तक होकर स्मरण करता हूँ।

मेरे पूज्य पिता जी ससार के कल्याण के मूल मे आध्यात्मिकता को प्रथम स्थान देते थ। उनका विश्वास था कि मनुष्य का सर्वांगीण विकास बिना आध्यात्मिकता के सम्भव नही है। उनकी आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन पर आधारित थी। आर्थिक उत्थान होते हुए भी विश्व का आज जो नैतिक ह्रास हुआ है, उसके मूल मे आत्म-चिन्तन का सर्वथा अभाव ही है। बिना आत्म-चिन्तन के आज सम्पूर्ण मानवता मे वैषम्य उत्पन्न हो गया है, जिसका मुख्य कारण उन नैतिक मूल्यो की अवहेलना करना है, जो भारतीय दर्शन की देन है।

'विश्वदर्शन' के तृतीय सस्करण के लिए पूज्य पिता जी दो और अध्याय लिख गये थे, जिन्हे पुस्तक के अन्त मे प्रकाशित किया गया है। ये दोनो अध्याय,—(१) कला-विज्ञान, साहित्य, नीति और धर्म का उद्देश्य तथा (२) जीव और उसका कल्याण,—सर्वथा नये है।

अपने जीवन-काल में ही उन्होंने इस पुस्तक के दो संस्करण प्रकाशित कर दिये थे। पहला सन् १९३० ई० में और दूसरा सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने अनेक रचनाएँ कीं, जो अभी अप्रकाशित ही हैं। कई रचनाएँ तो तब मिट्टी, पत्थर और पानी से दबकर नष्ट हो गईं, जब वर्षा ऋतु में आश्रम (चिलोली) का मकान गिर गया था। इसी कारण 'संसार सुराज्य विधान' और 'प्रकाशामृत' आदि अप्रकाशित रचनाओं के भी कुछ पेज मिट्टी और पानी से नष्ट हो गये।

दुर्भाग्यवश उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ सुरक्षित नहीं रह पाईं। कुछ मूल्यवान् रचनाएँ तो पूज्य पिता जी के जीवन-काल में ही अज्ञानवश विरोधियों द्वारा जला दी गई थीं। इस तरह युग के विरोधी तत्वों ने विश्व-कल्याण के ऐसे मंगलमय कार्यों में भी अनेकानेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित कीं तथापि अन्त में काले बादल सूर्य के प्रकाश को नहीं छिपा पाये। ब्रिटिश सरकार ने 'विश्वदर्शन' को सन् १९४० ई० में ब्रिटिश म्यूजियम, इंगलेंड, भेज दिया था। वहीं से पुस्तक का प्रकाश विश्व में फैला और संसार के विद्वानों ने 'विश्वदर्शन' की मौलिकता को स्वीकार किया। अतएव मैं ब्रिटेन, जर्मन, अमेरिका और रूस के उन महान् वैज्ञानिकों का विशेष आभारी हूं, जिन्होंने इस आविष्कार की उच्चता को समझा है।

लगभग सन् १९४० ई० से तो पिता जी की स्थिति ही बदल गई थी। तब से तो केवल उनका शरीर ही इस मृत्यु-लोक में विचरण करता रहा और मन-मस्तिष्क महाचैतन्य की खोज में गहन-गम्भीर तत्त्व-चिन्तन में तल्लीन हो गया। सर्वसाधारण की दृष्टि में ऐसे महापुरुषों को पागल की संज्ञा दी जाती है। अन्त में सितम्बर सन् १९५२ ई० को योग-समाधि में ध्यानावस्थित होकर ५२ वर्ष की आयु में वे परमानन्द पूर्ण ब्रह्म परमात्मा में लीन हो गए।

उनके गृह-त्याग के समय सन् १६४० ई० में हम तीनों अर्थात् मैं और मेरे छोटे भाई-बहिन,—सत्यप्रकाश और प्रकाशकान्ति,—किशोर अवस्था में थे। मैं नौ-दश वर्ष का था, सत्यप्रकाश चार-पांच वर्ष का और प्रकाशकान्ति का जन्म तो उसी सन् में हुआ था। तभी से अनेक विपत्तियों और भयंकर आंधी-तूफानों के बीच हम तीनों अपनी स्नेहमयी परम पूज्या माँ जी (श्रीमती प्रतिमादेवी) के साथ आतुरी के दिन काटते हुए किसी भी योग्य कैसे बन सकते थे? फिर भी आज जो कुछ हैं, यह उन्हीं के स्नेह का फल है।

सर्वप्रथम सन् १६५४ ई० में श्रद्धेय स्व० श्री हरगोविन्द जी पंत (उपाध्यक्ष, विधान सभा, उत्तर प्रदेश), डा० रामनारायण सक्सैना, पी०एच०डी०, डी० लिट्०, और प्रो० गयाप्रसाद शुक्ल (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी० ए० बी० कालेज, देहरादून), श्री नरदेव शास्त्री जी आदि विद्वानों ने मेरा ध्यान 'विश्वदर्शन' की ओर खींचा। तब से यह आकांक्षा मन ही मन में घुटती रही, पर मैं इस प्रकाशन के लिए समर्थ नहीं हो पाया। विलम्ब के लिए मैं देश-विदेश के सभी विद्वानों से क्षमा-याचना करता हूँ, जिस का कारण केवल अवसर और साधनों का अभाव है। मेरे समक्ष जहाँ एक ओर 'हिमालय-लोक-सेवा-मण्डल' की व्यवस्था एवं संचालन की कठिनाइयाँ हैं, वहीं दूसरी ओर समय और साधनहीनता के कारण मन में यही बेचैनी बनी रहती है कि पूज्य पिता जी की अन्य सभी रचनाओं को प्रकाश में किस तरह लाया जाय?

'विश्वदर्शन' के इस ग्रन्थ-रत्न को प्रकाश में लाने का श्रेय विख्यात जन-नायक एवं दरिद्रनारायण के सच्चे सेवक पूज्य महन्त श्री घनश्यामगिरि जी (अध्यक्ष, महात्मा रामरत्न स्मारक समिति) को है, जिनका जीवन-लक्ष्य है,—'सुख चाहो तो सुख दो?' आप अत्यन्त मृदुभाषी तथा सौम्य व्यक्ति हैं। पुस्तक के इस प्रकाशन

में सहायता देकर श्री घनश्यामगिरि जी ने विश्व का जो महान् कल्याण किया है, उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। पूज्य डा० स्वामी श्री श्यामसुन्दरदास जी शास्त्री सांख्य-योग-आयुर्वेदाचार्य (कोषाध्यक्ष, महात्मा रामरत्न स्मारक समिति) के उपकार को भी मैं नहीं भूल सकता। इस कार्य में उन्होंने जो योग दिया है, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

श्रद्धेय श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल, श्रीमती वृजदेवी कुँवरि, श्री महन्त सोमगिरि जी, श्री धनेश शास्त्री, श्री सुन्दरलाल कोठारी जी के सहयोग एवं शुभ कामनाओं से भी इस कार्य की सफलता को वल मिला है, अत: उनकी इस कृपा को भी भुलाया नहीं जा सकता।

श्री देवेन्द्र विज्ञानी (अध्यक्ष, विज्ञान प्रेस) का किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ? पुस्तक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में श्री विज्ञानी जी ने निष्ठापूर्वक जो अथक परिश्रम किया है, उसके लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

अन्त मे वैदिक पद्धति के अनुसार, अपने पितृदेव का स्मरण करता हुआ, इस प्रकाशन के रूप में मैं उनको यह तर्पण-रूप श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

पूज्य पिता जी को बदरिकाश्रम (हिमालय) में योग-समाधि द्वारा जो दिव्य ज्ञान उत्तरोत्तर क्रमशः प्राप्त होता गया, उसी का कुछ अंश 'विश्वदर्शन' में लिखा गया है। यदि इस कृति से विश्व-मानवता का वास्तविक कल्याण हो सका तो मैं अपने को भाग्यशाली समझूँगा और मेरे प्रातःस्मरणीय पूज्य पिता जी का प्रयास भी सफल होगा।

दिनाङ्क,

३ नवम्बर, १९६५ ई०

—विश्वप्रकाश थपलियाल

भूमिका

मैं उस सत्य, आनन्द और ज्ञानमय सच्चिदानन्द परमात्मा को कोटिश: नमस्कार करता हूँ, जो अपनी सत्य प्रेरणा से संसार-कल्याण के लिए अपने भक्तों की बुद्धि में सत्य रूप से प्रकाशित होकर ज्ञान उत्पन्न करता है। उसकी सत्त्वगुण-शक्ति से विश्वविराट् और प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं, जिससे प्राणियों को उसके सत्य-ज्ञान के बिना आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

मुझमें इतनी योग्यता नहीं कि मैं निराधार "विश्वदर्शन" को लिख सकता, किन्तु परमात्मा सर्वसमर्थ है और आत्मा परमात्मा ही है। यह पुस्तक केवल आत्मा का अनुभव मात्र है। बिना शुद्ध अनुभव के इसका एक शब्द भी नहीं लिखा गया। शुद्ध ज्ञान से कार्य करना कल्याणकर है। महात्माजन अपने कल्याण के साथ संसार का कल्याण करने में समर्थ होते हैं।

आत्मा सर्वसमर्थ है। उसकी सामर्थ्य से कोई कार्य दुर्लभ नहीं। स्वप्न की सृष्टि, जिसको हम स्वप्न में देखते हैं, उस का रचने वाला क्या कोई असमर्थ हो सकता है ? यदि उसे असमर्थ माना जाय तो स्वप्न की सृष्टि रचने में कौन समर्थ हो रहा है ? भेद केवल इतना है कि समर्थ और सर्वज्ञ जिस परदे पर अपनी अनन्त सामर्थ्य से स्वप्न की सृष्टि रचता है, वह असत्य होता है। इसलिए स्वप्न की सृष्टि जिस प्रकार स्वप्न में बनती है, जागने पर वैसी सत्य नहीं भासती। यदि

असत्य के परदे के स्थान पर सत्य का परदा होता तो स्वप्न की सृष्टि भी सत्य होती ।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वप्न का सृष्टि-कर्त्ता स्वप्न की अनेक सृष्टि रचने में प्रत्यक्ष और सर्वसमर्थ है । किन्तु जिस पर स्वप्न की सृष्टि का निर्माण होता है, वह असत्य है, इसलिए जागने पर स्वप्न की सृष्टि प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती । अब आप स्वप्न को सत्य कहेंगे या असत्य ? क्योंकि आपको स्वप्न का स्मरण तो हो रहा है, लेकिन स्वप्न की सृष्टि दिखाई नहीं दे रही है ।

यदि आप कहें कि स्वप्न असत्य है, तो आपका स्मरण सत्य कैसे बना है ? अगर आप कहें कि स्वप्न सत्य है, तो जागने पर स्वप्न की सृष्टि प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखाई देती ? सत्य तो प्रत्यक्ष होता है ।

मैं अब आपको बताता हूँ कि स्वप्न सत्य है या असत्य । स्वप्न का कर्त्ता तो सत्य है, इसलिए उसका कार्य भी सत्य है, जो जागने पर आपको स्मरण हो रहा है । लेकिन स्वप्न के कर्त्ता ने जिस परदे के धरातल पर स्वप्न की सृष्टि की थी, वह असत्य था, जो निद्रा से जागने पर नष्ट हो जाता है । इसलिए उस पर बनी हुई सृष्टि भी नष्ट हो जाती है, जिससे जागते ही स्वप्न की सृष्टि अप्रत्यक्ष हो जाती है ।

यह दशा तो स्वप्न की है । किन्तु जीवन और मरण में क्या होता है ? जरा सावधान होकर सोचो,—'हम कौन हैं और कब से हैं ?' बस, इसी पर निर्णय हो जायेगा । जिस शरीर में हम हैं, उस से पहिले हम क्या थे और उससे भी पहिले क्या थे ? इस शरीर से पहिले भी हम अवश्य कुछ थे और उससे भी पहिले कुछ थे । इस प्रकार यदि हम अपने अस्तित्व की सीमा ढूँढ़ें तो एक न एक दिन अपनी वास्तविकता को समझ सकते हैं ।

यदि आप कहें कि हम पञ्चतत्त्व के योग से बने हैं और उन के

नाश होने पर कुछ शेष नहीं रहता, तो इस मत के अनुसार भी मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर तो अवश्य रहता है। जिसको आप देख रहे हैं, उसको जलाया जाय या धरती में गाड़ा जाय, फिर भी वह कुछ रह जाता है; क्योंकि वह भस्म होकर या सड़-गलकर भी रूपान्तर से पञ्चतत्व में विद्यमान रहता है। अब तनिक फिर विचार करो कि हमारा शरीर तो नष्ट होकर तत्वों में जाता है, किन्तु तत्त्व नष्ट होकर कहां जाते हैं ?

सुनिए ! जब सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि सब बुझकर तत्त्वों सहित नष्ट हो जाते हैं, तब वे सब रूपान्तरित होकर अन्धकार में रहते हैं, जैसे अग्नि बुझकर अन्धकार में लय हो जाती है। अन्धकार का भी अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि हम देखते हैं कि रात्रि में अन्धकार होता है और सूर्य के उदय होते ही वह नहीं रहता। इसी भांति अन्धकार चाहे छोटे विस्तार में हो या बड़े विस्तार में, उसका अस्तित्व नहीं है। महा-अन्धकार भी अपनी अवधि पर लय हो जाता है, परन्तु वह किसमें लय होता है ? अन्धकार से परे निर्विकार चैतन्य सत्ता है, जिसमें वह लय हो जाता है। अब चाहे किसी मार्ग से चलो, अपने असली स्वरूप का ज्ञान आपको भली भांति हो जायगा।

प्रत्येक का वास्तविक अस्तित्व वही चैतन्य सत्ता है। उसी में समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड लय होते हैं और लय होने के पश्चात् कालान्तर में उसकी क्रिया से पुनः उत्पन्न होते हैं।

सर्वसमर्थ अपनी क्रिया से जिस परदे पर विश्व-ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करता है, वह भी स्वप्न के परदे की तरह असत्य है, इसलिए उसके नष्ट होने पर विश्व-ब्रह्माण्ड का अस्तित्व नहीं रहता।

अब आपको भली भांति ज्ञात हो गया होगा कि आप सर्वसमर्थ, आद्यकाल से हैं, किन्तु अनादिकाल से अन्धकार के विस्तार में रहने

से आपने अपनी सर्वज्ञता का ज्ञान खो दिया है, अज्ञान के कारण अल्पज्ञता आ गई है। जिन महात्माओं को आत्मज्ञान द्वारा सदैव यह दृश्य जैसा का तैसा भास रहा है, वे किसी भी शरीर में सर्वज्ञ ही होते हैं।

इस पुस्तक के विषय विश्व-जनों के हितार्थ संक्षेप में लिखे गये हैं। प्रत्येक विषय इतना गहन है कि मैं इस अवस्था में आजन्म एक विषय को भी विस्तृत लिखने का साहस करता तो नहीं लिख सकता था। यह भी विचारणीय है कि मैं जिस रूप में प्रत्येक विषय को देख रहा हूँ, लिखने में उसका रूप जैसा का तैसा कहाँ तक वर्णन हो सक है ?

इस ग्रन्थ को केवल स्वानुभूत लिखना विश्व-जनों को आश्चर्य-जनक प्रतीत होगा। प्रायः पिण्डों के वर्णन में तो विशेष आश्चर्य होगा। मैं इस विषय में एक छोटा-सा उदाहरण देता हूँ। एक कृषक अपनी खेती में ज्ञान और परिश्रम से ईख पैदा कर उससे मिश्री बनाना जानता है। एक दूसरा मनुष्य उससे पूछता है कि इस मिश्री को तुमने किस बाजार से खरीदा ? कृषक कहता है कि मैंने अपने खेत में ईख पैदाकर अपने आप मिश्री बनाई है। लेकिन पूछने वाले को विश्वास नहीं होता, क्योंकि उसके ज्ञान में तो मिश्री बाजार में ही मिलती है। यदि वह समझदार होता तो मिश्री बनाने वाले के प्रति अविश्वास कभी नहीं करता. क्योंकि किसी भी बाजार में जो मिश्री देखने में आती है, वह अवश्य किसी खेत में ईख के रूप में ही पैदा होती है और उसको किसी न किसी ने बनाया ही होगा। फिर कृषक के बनाने में आश्चर्य क्यों ? इसी प्रकार समस्त ग्रन्थ किसी न किसी बुद्धिरूप खेत में उत्पन्न हुए हैं और किसी न किसी ने लिखकर उनको बनाया है।

सर्वशास्त्र बुद्धि के अधीन हैं, न कि बुद्धि शास्त्रों के अधीन है।

जो सर्वज्ञ है, उनके ज्ञान में कोई भ्रम नहीं हो सकता। भ्रम तो केवल अज्ञान और अल्पज्ञता के अन्दर ही हो सकता है।

प्रायः खगोल के विज्ञान-वेत्ताओं को पिण्डों के वर्णन में भी सन्देह होगा कि पृथ्वी में रहने वाले मनुष्य का कथन इस विषय में कैसे प्रामाणिक माना जाय? आजकल यन्त्रों के आधार से विश्वास दिलाने पर तो विश्वास हो सकता है, किन्तु स्वानुभव को विश्वस्त कैसे माना जाय?

इस विषय पर स्पष्ट किया जाता है कि प्रथम तो यन्त्रों के आधार पर बृहत् आकाश के पिण्डों का सत्य-सत्य निर्णय असम्भव है। महाकाश की दूरियां यन्त्रों से कैसे नापी जा सकती हैं? वे तो यन्त्रों के होते हुए भी केवल अनुभव-सिद्ध होती है। यदि यन्त्रों के ही आधार पर निर्णय माना जाय तो हम जिस वस्तु को साधारण दृष्टि से देखते है, अगर उसी को दूरबीन आदि यन्त्रों से देखें तो उसके रूप में विशेष छोटाई-बड़ाई का अन्तर ज्ञात होता है। यदि उसी वस्तु को किसी अन्य बड़े यन्त्र से देखें तो उसके रूप में विशेष अधिक छोटाई-बड़ाई का अन्तर मालूम होता है। अब हम उस वस्तु का वास्तविक स्वरूप कौन-सा माने? जो साधारण दृष्टि से मालूम पड़ता है उसको या जो दूरबीन से देखा जाता है उसको या जो बड़े यन्त्र से देखा जाता है उसको? निर्णय करना बड़ी कठिन समस्या हो जाती है।

यदि साधारण दृष्टि से देखने वाले स्वरूप को सत्य माने तो यन्त्रों के आधार पर देखना असत्य प्रतीत होता है। यदि यन्त्रों के आधार से देखना सत्य माने तो साधारण दृष्टि असत्य होती है। यदि ऐसा मानें कि साधारण दृष्टि ही असत्य है, तो सिद्ध होता है कि साधारण दृष्टि जो दूरबीन आदि यन्त्रों से देखती है, वह भी असत्य है। अब सत्य-दृष्टि कौन-सी मानी जाय?

यदि हम सत्य देखना चाहें तो साधारण दृष्टि से नेत्रों द्वारा किसी

वस्तु के सत्य-स्वरूप को नहीं देख सकते, क्योंकि उपाधिमय दूरबीन आदि यन्त्रों की भाँति मायाकृत आंखें भी एक तरह उपाधिमय ही हैं। देखने का काम प्रकाश करता है, आँखें तो उसी प्रकाश से देखती हैं। इसलिए अन्धी आंखों से (प्रकाश के बिना) रूप का ज्ञान नहीं होता। यदि हम आंखों के द्वारा भी देखना छोड़कर स्वतः प्रकाश से ही देखें तो उससे किसी वस्तु का असली स्वरूप देख सकते है।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि आँखों से भी न देखा जाय तो असली प्रकाश कहाँ है, जो देख सकता है ? मैं आपको याद दिलाता हूँ कि नेत्रों की सहायता के बिना आप उस प्रकाश से कभी-कभी देखते हैं। आपने कभी स्वप्न देखा होगा। स्वप्न की सृष्टि जो आपने देखी है, क्या वह नेत्रों से देखी गई ? नहीं, नेत्रों से नहीं देखी गई, क्योंकि निद्रावस्था में नेत्र बन्द रहते हैं। अब पुनः सोचो कि स्वप्न की सृष्टि कैसे देखी गई ? उसी प्रकाश से देखी गई, जो तुम्हारे नेत्रों में आकर देखता है। किन्तु स्वप्न की सृष्टि भी शुद्ध प्रकाश से नहीं देखी जाती। निद्रावस्था में अज्ञान का परदा, जो जड़ता से प्राणियों के शरीर को ढकता है, वह शुद्ध प्रकाश में उपाधिरूप से रहता है। यदि उसके स्थान में पूर्ण चैतन्य अवस्था प्राप्त हो सके और उससे देखा जाय तो विश्वविराट् के अन्तर्गत अणु से ब्रह्माण्ड पर्यन्त का स्वरूप यथार्थ देखा जायेगा। उस देखे हुए को ही सत्य मानिये. क्योंकि देखने का कार्य प्रकाश के बिना नहीं हो सकता। जिस प्रकार भवन के अन्दर की वस्तुओं को दीप के प्रकाश से देखते हैं और पृथ्वी की वस्तुओं को सूर्य के प्रकाश से देखते हैं, इसी प्रकार अनन्त विश्व के रहस्यों को महाप्रकाश के बिना नहीं देख सकते। महाप्रकाश हम उसे कहते हैं, जिससे आकाश के समस्त तारे, चन्द्रमा, सूर्य, बिजली, अग्नि आदि सब प्रकाशित होते हैं। वही

स्वयं प्रकाश है, उसी की प्रकाशित चैतन्य शक्ति को हम बुद्धि का सत्य ज्ञान कहते हैं।

यन्त्रों या साधारण दृष्टि से, दूर-दूर की बातें छोड़कर, निकट से निकट के सत्य-निरीक्षण के विषय में कहता हूँ। चार-पांच मनुष्यों से पैमाने द्वारा एक इञ्च की दूरी नपवाइये। जब सब अपनी-अपनी बुद्धि से एक इञ्च की दूरी नाप चुके हों, तब एक अन्य किसी निरीक्षक से सबके नाप की जाँच कराइये। देखने से सबमें अणु-अणु मात्र का अन्तर अवश्य मालूम होगा। फिर भी निश्चय नहीं होगा कि किसकी नाप इञ्च की दूरी में सत्य है। सत्य-दृष्टि से पैमाने का स्वरूप देखा जाता तो इञ्च की दूरी भी सही निकलती।

सर्वसाधारण की जानकारी के लिए लेखन-शैली साधारण भाषा में लिखी गई है। सम्भवतः शृङ्गार-प्रेमियों को यह विषय विरस-सा मालूम होगा, क्योंकि दार्शनिक और वैज्ञानिक विषय प्रथम तो सर्वसाधारण को ही नीरस जान पड़ते हैं, फिर शृङ्गार-प्रेमियों का तो कहना ही क्या ? मेरा ध्यान तो केवल लक्ष्य के चित्र खींचने पर रहा। विषयों का ज्ञान होने पर भी सबको समझाने के लिए भाव और भाषा में कई बार कठिनाइयाँ आईं। प्रत्येक विषय का क्रम (आदि, मध्य, अन्त) निराधार रखना मेरे लिए कितना कठिन काम था ? पण्डितजन इसका स्वयं अनुभव करेंगे।

मैं गृहस्थाश्रम की पवित्रता पर देवियों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित करता हूँ और सती देवियों का यथेष्ट आदर करता हूँ। इस ग्रन्थ के निर्माण में मेरी अर्द्धाङ्गिनी श्रीमती प्रतिमादेवी पूर्ण सहायक रहीं। यद्यपि वे पण्डिता नहीं हैं तथापि उन्होंने गृहस्थी के सारे कार्य-भारों को अपने ऊपर उठाकर मेरी शान्ति और स्वतन्त्रता में सती स्त्रियों की भांति पूर्ण सहायता की, जिस शान्ति और स्वतन्त्रता के बिना ग्रन्थ का निर्माण करना मेरे लिए कठिन था।

क्षुधा के होने पर ही उसकी पूर्ति का ध्यान होता है। भोगों की पूर्ति होने पर प्रतिष्ठा की, उसके पूरा होने पर संसार के प्रभुत्व की और प्रभुत्व-भोगों की पूर्ति पर ईश्वरीय ज्ञान की इच्छा होती है। प्राचीन भारत इस सर्वोच्च सभ्यता के शिखर पर पहुँच चुका था, लेकिन जितना उत्थान हुआ था, उसके पश्चात् वर्तमान युग तक क्रमशः उतना ही पतन हो गया है। किसी समय जिस भारत के महापुरुष ब्रह्मज्ञान (सत्यज्ञान) के प्रभाव से कल्पों तक बलवान् और सुरक्षित रहते थे, वर्तमान समय में उस भारत के लाल नाशकारी भोगों के मिथ्या आहार-व्यवहारों से रोगी और निर्बल होते हुए केवल ४०-५० वर्ष की ही अवस्था में बूढ़े बनकर काल के ग्रास बन जाते हैं। 'विश्वदर्शन' में शरीर-सम्बन्धी प्रत्येक विषय का वर्णन किया गया है और यह बात भली भांति समझाई गई है कि पदार्थों के किन-किन अंशों से शरीर रक्षित और पोषित होता है और किन-किन अंशों से उसका शोषण एवं विनाश होता है।

इस से मनुष्य मात्र को अपने कल्याण का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होगा। सर्वसाधारण के हितार्थ पुस्तक सरल भाषा में लिखी गई है। इस पुस्तक में जीवों के कार्य करने के उद्देश्य, विश्व का उत्पत्ति-कर्म, तत्त्व-विज्ञान, पिण्डों का परस्पर सम्बन्ध, शरीर-रचना, वनस्पति, कला-विज्ञान, साहित्य, नीति-धर्म तथा जीव और उसका कल्याण आदि विषयों का वर्णन किया गया है।

पुस्तक के विषयों का ज्ञान इस प्रकार हुआ,—सूर्य भगवान् ने जल-पृथ्वी का ज्ञान, चन्द्रमा और पृथ्वी ने वनस्पति-ज्ञान तथा समस्त विश्व का विकास करने वाले "महाप्रकाश" ने पुस्तक का सर्व ज्ञान बुद्धि को प्रदान किया।

शुभ संकल्प-शक्ति, सन्ध्या के ध्यान और शुद्ध शुक्र-रक्षण ने मुझे पुस्तक-रचयिता बनाया। इन तीनों ने मेरी बुद्धि को गहन-गम्भीर,

विवेकशील, विकसित और प्रकाशित किया। जिस प्रकार निर्मल बत्ती, शुद्ध तेल और जलती अग्नि के बिना "दीपक" उज्ज्वल रूप में प्रकाशित नहीं हो सकता, इसी प्रकार शुभ-संकल्प, शुद्ध शुक्र और सन्ध्या-रहस्य के ध्यान के बिना "बुद्धि" शुद्ध रूप से प्रकाशित नहीं हो सकती।

ध्यान में सन्ध्या-मन्त्र का रहस्य विवेकशील बुद्धि का मार्ग-दर्शक बनता है और बुद्धि उसकी सहायता से धीरे-धीरे कालान्तर में सूर्य के प्रकाश और वहां से समस्त विश्व को प्रकाशित करने वाले 'महाप्रकाश' में पहुंचती है। वहां पहुंचने पर बुद्धि इस भांति महाप्रकृति का समस्त स्वरूप देख लेती है, जिस भांति पर्वत की चोटी पर चढ़ने वाला मनुष्य नीचे की सब वस्तुओं को सुगमता से देख लेता है। इस प्रकार सन्ध्या के ध्यान में कई बार महाप्रकाश में पहुंचते और अपने स्थान में उतरते हुए बुद्धि को विश्वमय तथा शारीरिक तत्त्वों का ज्ञान भी सुगमता से हो जाता है।

बुद्धि को सत्य ज्ञान होने पर वह विश्व के खण्डमय इस शरीर को अखण्ड महा विश्वमय समझ लेती है। तब उस अवस्था में शरीर की भांति मन सुगमता से समस्त विश्व के लोक-लोकान्तरों में जा सकता है और वहां सब का अनुभव कर लेता है। बुद्धि उस अवस्था में समस्त विश्व का धारण, रक्षण और प्रकाशन करने वाले परमात्मा को आत्मवत् देखती है। उस महाप्रकाश में, जिसके सामने कोई रहस्य छिप नहीं सकता, बुद्धि सब देख लेती है और अपने वास्तविक स्वरूप को भी देखती है। वह अपने को महाप्रकृति-स्वरूप देखती है। उस अवस्था में बुद्धि अपने ध्यान का यह तात्पर्य भी समझ लेती है,—"मेरे विश्वमय शरीर का विकास और रक्षण करने वाला महाप्रकाश आत्म-स्वरूप परमात्मा है"। इसलिए वह परमात्मा की पूर्णता और अपनी तथा अपने शरीर की अपूर्णता को अच्छी तरह समझ कर, अपनी

पूर्णता की इच्छा से. पूर्ण परमात्मा का ध्यान करना अपना कर्तव्य समझती है और तदनुसार वह अपने अपूर्ण विश्वमय शरीर के कल्याण के लिए पूर्ण परमात्मा का ध्यान करती है। ऐसी बुद्धि एक छोटे मानव-शरीर में रहते हुए भी समस्त विश्व का कल्याण करने की अधिकारी बन जाती है और विश्व-कल्याण के कार्य को अपना वास्तविक कार्य समझती है।

इस पुस्तक के लेखन-कार्य में कई बार उन अनेक भयंकर संकटों और कष्टों ने मेरा तेज दबाने के लिए मुझे घेरा, जिन की भयंकरता से महान् धीर भी अधीर हो सकते थे; किन्तु परमात्मा की कृपा से मैं अपने कार्य में संलग्न रहा और मेरा तेज बढ़ता गया। विघ्न और मंगल दोनों की कृपा से मैं इस कार्य के लिए समर्थ हुआ।

भगवान् सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी और अज्ञान के नाशक परम-प्रकाश परमात्मा ने "विश्वदर्शन" का ज्ञान प्रदान किया। ग्रन्थ-रचना के प्रोत्साहन और साधन सुहृद-जनों से प्राप्त हुए।

तीसरे संस्करण तक इस प्रकार पुस्तक की पूर्ति और संशोधन का कार्य किया गया, जिस प्रकार नई भूमि जोतने वाला कृषक अच्छी उपज की आशा से उस भूमि से कई बार पत्थर-कंकड़ निकालता है और उसमें सुन्दर मिट्टी भरता है। ठीक इसी प्रकार मैंने भी शुद्ध मानव-उपज की अखंडित आशा पर अपनी पूर्ण तृप्ति तक पुस्तक का संशोधन किया है। इसलिए इस में पिछले संस्करणों की अपेक्षा कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक है। पूर्ण सफलता के लिए महा कार्यों का तीन बार संशोधन कल्याणप्रद होता है। अब पुस्तक की रचना पर मुझे पूर्ण तृप्ति है।

मैं इस पुस्तक के सम्मति-दाताओं का यथेष्ट आदर करता हूँ, जिनकी सम्मतियां पुस्तक के आद्यान्त में प्रकाशित हैं। शुभम्

—रामरत्न

सूची तथा संक्षिप्त विषय-वर्णन



समर्पण—

जिस तरह परमात्मा सृष्टि की सारी वस्तुओं को केवल दूसरों के हित के लिए पैदा करता है, वैसे ही पिता-माता सन्तान का सारा उपकार करते हैं। सन्तान के लिए पिता और माता प्रत्यक्ष ईश्वर हैं।

पिता-माता ने न जाने कितनी आशायें रखकर मेरा पालन-पोषण किया होगा, किंतु इस तुच्छ शरीर से मैं उनकी कुछ भी सेवा न कर सका। इसलिए स्वानुभूत पुस्तक 'विश्वदर्शन' को संसार-हित के लिए अपने पूज्य पिता (स्व० पण्डित धर्मदत्त जी) एवं पूजनीय मां (स्व० सुश्री सरस्वती जी) की सेवा में सादर समर्पित करता हूं।

—रामरत्न



ॐ तत्सत्

विश्व-दर्शन

अध्याय 1

●

हम और हमारी आवश्यकता

इस विराट् विश्व में अनन्त पिण्ड हैं। हमारी पृथ्वी, जिस पर हम रहते हैं, वह भी विश्व का एक पिण्ड है। इस पृथ्वी पर अनेक जाति के अनन्त जीव रहते हैं। उनमें से मनुष्य भी एक प्रकार का जीव है। सब जीव अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार अपने जीवन में जीवन-पर्यन्त नित्य संघर्षित होते रहते हैं। इसका नाम जीवन-संग्राम है। खाना-पीना, चलना-फिरना, पढ़ना-लिखना, खेती, वाणिज्य-व्यवसाय, कला-कौशल और नाटकादि जितने भी कार्य किए जाते हैं, उन सब में संघर्षित होकर जीवन-संग्राम किया जाता है, इस जीवन-संग्राम से जीवों में सामाजिक और राजनैतिक संघर्ष उपस्थित होते हैं। मनुष्यों के व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक संग्राम की भांति अन्य जीवों में भी ये संग्राम विद्यमान रहते हैं।

मधु मक्खियाँ अपनी-अपनी आवश्यकतापूर्ति के लिए नित्य दैनिक संग्राम में जुटी रहती हैं और अपनी-अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता-पूर्ति के लिए सब मधु-मक्खियां जुटकर एक सामाजिक संग्राम का निर्माण करती हैं। उस संग्राम को सुन्दरता से निभाने के लिए उनमें एक राजनैतिक व्यवस्था बनी रहती है।

बन्दरों में भी आवश्यकता-पूर्ति के लिए सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थायें बनी रहती हैं। टिड्डी और चिउँटियों में भी इस प्रकार की व्यवस्थायें मिलती हैं। इसी प्रकार अनेक जीवों में मनुष्यों की भांति व्यवस्थायें मिलती हैं, परन्तु मनुष्यों और पृथ्वी के अन्य जीवों में इस प्रकार की व्यवस्थाओं की रचना केवल आनन्द की प्राप्ति के हेतु ही होती है।

यह अलग बात है कि मनुष्य व अन्य जीव अपने-अपने अज्ञान के कारण बजाय आनन्द के दुःख की ओर पहुँच जायँ, किन्तु जीवों के जीवन-संग्राम का उद्देश्य केवल आनन्द की ही प्राप्ति है।

यह आनन्द क्या है, जिसकी प्राप्ति सब जीवों का ध्येय है ? साधारणतया हम देखते हैं कि हम अथवा सारा मनुष्य-समुदाय उज्ज्वल वस्त्र-आभूषण, उत्तम खान-पान, मनोनुकूल स्त्री-पुत्र, रहन-सहन और भव्य भवन-आँगन इत्यादि की

प्राप्ति को ही आनन्द समझते हैं। इनमें उत्तरोत्तर जितनी अनुकूलता हमारे देखने और सुनने में आती है, उतनी ही हमारे आनन्द की लालसा आगे बढ़ती है।

मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य जीवों में भी उज्ज्वलता से आनन्द ज्ञात होता है। पतंग और अनेक कीट आनन्द की लालसा में दीपक आदि के उज्ज्वल प्रकाश में भस्म तक हो जाते हैं। मधुर ध्वनि से मृग और सर्प भी मुग्ध हो जाते हैं। इसी तरह सब जीवों का आनन्द केवल उज्ज्वलता पर ही निर्भर ज्ञात होता है।

अब हम सब वस्तुओं की उज्ज्वलता के साथ, जिनमें हम साधारणतया आनन्द समझते हैं, उससे आगे अपने सामने की महान् उज्ज्वलता पर चलते हैं, उससे हमें क्या मिलता है?

हमारे और सब जीवों के सामने महान् उज्ज्वलता का पुञ्ज सूर्य है, जिसके प्रकाश से दिन होता है और उसके प्रकाश के बिना रात्रि होती है। सूर्य के प्रकाश से दिन में हमें क्या मिलता है और उसके प्रकाश के बिना रात्रि के अन्धकार से हमें क्या मिलता है?

हम देखते हैं, रात्रि को जब अन्धकार होता है और उस अन्धकार से मनुष्य आदि बहुत-से जीव निद्रा-वश एक प्रकार अचेतन से हो जाते हैं, तब सूर्य के प्रकाश से प्रातः ही सब जीव जाग्रत होकर चेतन हो जाते हैं। रात्रि के अन्धकार में

जैसे सावन की अमावास्या की रात्रि के अन्धकार में तो बस्ती से बाहर जाने में अधिक लोगों को भय-सा ज्ञात होता है और अधिकतर बहुत से जीव भी अन्धकार में चलते-फिरते दिखाई नहीं देते। इसलिए अन्धकार में भय ज्ञात होता है, किन्तु दिन के होते ही सूर्य के प्रकाश में यत्र-तत्र जाने में जीव-मात्र को निर्भयता ज्ञात होती है। इसलिए उज्ज्वलता में निर्भयता मिलती है। रात्रि के घने अन्धकार में किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश से सब वस्तुओं के रूप-रंग का यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिए दिन में सूर्य की उज्ज्वलता से हमें स्वतः ही चेतनता, निर्भयता, और ज्ञान प्राप्त होता है और रात्रि के अन्धकार से अचेतनता, भय और अज्ञान प्राप्त होता है।

सूर्य की उज्ज्वलता अथवा प्रकाश के अतिरिक्त विश्व में चन्द्रमा, तारे, बिजली, अग्नि और मणि आदि अन्य पदार्थों की उज्ज्वलता अथवा प्रकाश से भी हमें आनन्द प्राप्त होता है। इसलिए यह बात सिद्ध होती है कि सूर्य से भी बढ़कर आगे कोई महान् उज्ज्वलता है, जिससे सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली, अग्नि और विश्व के अन्य पदार्थ प्रकाशित होते हैं। उसी महाप्रकाश में हमारा पूर्ण आनन्द है। उसकी प्राप्ति हमारे और सब जीवों के आनन्द की सीमा है। उससे हमें महान् चेतनता, निर्भयता

और महान्-ज्ञान प्राप्त होता है। महान् चेतनता, निर्भयता और महान ज्ञान ही परम सुख के कारण हैं।

इसी भांति रात्रि के अन्धकार की अपेक्षा बृहत् आकाश में हम महान्-अन्धकार देखते हैं। अधिकाधिक अन्धकार में हम पता चला सकते हैं कि अधिकाधिक अचेतनता, भय और अज्ञान होता है। भय और अज्ञान ही दुःख के कारण हैं।

इसलिए मनुष्य और सब जीव विश्व के समस्त पदार्थों की प्राप्ति में इन्हीं प्रकाश और अन्धकार-रहस्यों के द्वन्द्वों में संघर्षित होते रहते हैं। बुद्धि के ज्ञान और अज्ञान ही इन रहस्यों की प्राप्ति को लक्षित और अलक्षित कर सकते हैं। ज्ञान से हम आनन्द की अन्तिम सीमा प्राप्त कर सकते हैं और अज्ञान के कारण दुःख की अन्तिम सीमा को पहुँच सकते हैं।

इन दोनों रहस्यों अथवा आनन्द की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए जीव-मात्र में सदैव जीवन-संग्राम बना रहता है। जीवों के जीवन का मुख्य उद्देश्य इन रहस्यों को जानना है, किन्तु अन्यान्य जीवों में मनुष्य जीव ही एक ऐसा है जिसकी बुद्धि इन रहस्यों के समझने में दक्ष हो सकती है। इसलिए मनुष्य-बुद्धि का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि इस भूल-भुलैया विश्व में सुख और दुःख

के रहस्यों को पहचानकर सुख को प्राप्त और दुःख को निवृत्त करने का ज्ञान मनुष्य-मात्र के सामने रख दे।

इस ध्येय की प्राप्ति के लिए विश्व का ज्ञान होना परम आवश्यक है। सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए प्रथम विश्व को समझना चाहिए। विश्व में अनेक प्रकार की विभिन्नता प्रतीत होने पर सुख और दुःख के रहस्यों को ठीक-ठीक पहचानना असम्भव-सा हो ज ता है, यहाँ तक कि साधारण बुद्धि सुख को दुःख और दुःख को सुख समझने लगती है।

इसलिए सुख अथवा आनन्द को प्राप्त करने में प्रथम विश्व के पदार्थों को जानना ही मनुष्य का मुख्य उद्देश्य है।

समस्त विश्व की उत्पत्ति दो प्रकार के मौलिक महातत्वों से मिलती है,--एक पूर्ण-महातत्व और दूसरा अपूर्ण-तत्व। पूर्ण तत्त्व गतिरहित, आधार और प्रकाश-स्वरूप है तथा अपूर्ण तत्त्व चंचल, आधेय और अन्धकार स्वरूप है।

लौकिक सृष्टि के साथ जीवों की उत्पत्ति में उन मौलिक तत्त्वों को शुक्र और रज कह सकते हैं। समस्त जीवों की उत्पत्ति शुक्र और रज से होती है। शुक्र में स्थिरता, धारणता और उज्ज्वलता होती है। लेकिन रज में गति, आधेयता और कालापन अथवा अन्धकार होता है।

इसी प्रकार समस्त विश्व की बनावट महाशुक्र और

महारज से बनी है। महाशुक्र को हम पुरुष और महारज को प्रकृति नाम से कहते हैं। पुरुष पूर्ण, स्वतंत्र, आधार और प्रकाशमय है, लेकिन प्रकृति अपूर्ण, अधीन, आधेय और अन्धकारमय होती है। समस्त विश्व इन्हीं पूर्ण और अपूर्ण मौलिक तत्त्वों के योग से बनता है।

जीवों की बनावट में भी एक पूर्ण तत्त्व और दूसरा अपूर्ण तत्त्व है। पूर्ण तत्त्व के साथ हमारा अपूर्ण तत्त्व ही पूर्ण होने की चेष्टा में आनन्द समझता है, किन्तु विश्व के अपूर्ण पदार्थों की सहायता से अपूर्ण को पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। हमारी इच्छा नित्य हमारे शरीर के अपूर्ण हिस्से को पूर्ण होने की चेष्टा में लगी रहती है, किन्तु बुद्धि के अज्ञान के वश हम विश्व के अपूर्ण पदार्थों के भोगों में पूर्णता का भोग ढूंढ़ते रहते हैं, इसलिए हमारी इच्छा और हमारे कार्यों में विरोध पाया जाता है, जिससे हम आनन्द चाहते हुए भी आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। इसी आनन्द की लालसा में विश्व के अणु-अणु यथार्थ ज्ञान के बिना हमारे लिए सुख और दुःख के कारण बनते हैं। इसलिए आनन्द को प्राप्त करने में हमारे लिए सीढ़ियाँ इस प्रकार हैं—

प्रथम विश्व को समझने के लिए शुद्ध-चैतन्य-बुद्धि की आवश्यकता है। निर्मलता के बिना बुद्धि में शुद्ध चैतन्यता का अभाव रहता है। आत्मिक प्रकाश के बिना बुद्धि में निर्मलता नहीं आती। शुद्ध शुक्र-रक्षण के बिना बुद्धि आत्मिक

प्रकाश को ग्रहण करने में असमर्थ होती है और उसके बिना बुद्धि प्रकाशित नहीं हो सकती। इन्द्रिय-विकारों के दमन के बिना शुक्र का रक्षण नहीं हो सकता। मन, वचन, कर्म आदि से सर्वथा चोरी के अभाव के बिना इन्द्रियों के विकार का दमन नहीं हो सकता। अन्तःकरण और वाह्य सत्य-आचरण के बिना चोरी का अभाव नहीं हो सकता। पूर्ण पवित्रता के बिना सत्य का आचरण नहीं हो सकता। अहिंसा के बिना पूर्ण पवित्रता नहीं आ सकती। तप के बिना अहिंसा का आचरण नहीं हो सकता। निर्मल शिक्षा के बिना तप की ओर झुकने की रुचि नहीं होती, धीरता के बिना तप नहीं हो सकता और विकारों के त्याग के बिना धीरता नहीं आ सकती। इस प्रकार के मानसिक सुधार के बिना मनुष्यों को वास्तविक सुख का अनुभव तक भी नहीं हो सकता।

'विश्वदर्शन' के लिए प्रथम इस प्रकार के मानसिक सुधार की आवश्यकता है और फिर परम सुख की प्राप्ति के लिए विश्व के रहस्यों को जानने की आवश्यकता है।

अध्याय २

●

पुरुष-प्रकृति के योग से विश्व की रचना

१. महाचैतन्य-पुरुष—जो निर्विकार, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है, वही विश्व का चैतन्य स्वरूप है। जिसकी सत्ता से जड़ प्रकृति चेतन प्रतीत होती है, उसको चैतन्य कहते हैं। वह नित्य, अटल, एकरूप है उसका परिवर्तन नहीं होता। वह अविनाशी, सनातन और सत्य है। उसकी सत्ता से विश्व का सृजन करने वाली महाजागृति उत्पन्न होती है। विकसित करनेवाली क्रिया को बोधित करनेवाली शक्ति का नाम महाजागृति है। उस के सञ्चार में तमोगुण उत्पन्न होता है।

तमोगुण की उत्पत्ति से जागृति का स्वाभाविक गुण तमोगुण है। तमोगुण के दो भेद होते हैं—पोषित और नाशित। उसके पोषित भेद में जागृति विकसित होकर विश्व में तत्त्वों, पिंडों, प्राणियों और वनस्पति आदि सबका विकास करती है।

तमोगुण के नाशित भेद में जागृति, लुप्त, प्राणियों का मरण और पदार्थों का पतन होता है।

इसलिए तमोगुण वह है, जिससे विश्व में जाग्रत, लुप्त,

जीवन-मरण, बढ़ना-घटना आदि भेदों का परिवर्तन होता रहता है।

वृहत् आकाश सहित वायु, सूर्य, जल, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि दृश्यादृश्य सब तत्व और पिंडों के समूह को विश्व कहते हैं।

चैतन्य परिवर्तन रहित परम तत्त्व है। इसलिए वह सत्य, अटल, नित्य, अविनाशी और सनातन है।

२. महाजागृति—पोषित और नाशित तमोगुण से परिवर्तन-शील होती है, इसलिए उससे उत्पन्न होनेवाला विश्व जाग्रत, लुप्त, जीवन-मरण, बढ़ना-घटना आदि परिवर्तनों में घूमता रहता है।

चैतन्य की सत्ता से जागृति उत्पन्न होती है। इसलिए उस अवस्था में चैतन्य और जागृति दो नहीं, एक प्रतीत होते हैं। किन्तु चैतन्य में जागृति उत्पन्न होते ही उनके गुणों में भेद हो जाता है, इसलिए चैतन्य और जागृति विश्व की उत्पत्ति में एक नहीं, किन्तु दो प्रतीत होने लगते हैं।

जागृति विश्व की बनावट में पूर्णतया जागृत होकर विश्व के विनाश के पश्चात् अपने स्वभाव से लुप्त हो जाती है। जागृत और लुप्त ये दोनों अवस्थायें बिना आधार के नहीं हो सकतीं। वे आधार ही से जागृत और आधार ही में लुप्त होती हैं। चैतन्य आधार में आधेय जागृति, चैतन्य की सत्ता से पोषित होकर विश्व का सृजन करती है और नाशित

तमोगुण से विश्व का विनाश करती हुई अन्तिम चैतन्य में लुप्त होती है। इसलिए जागृत और लुप्त दोनों अवस्थाओं को धारण और रक्षण करने वाला आधार चैतन्य है।

अपना अस्तित्व छोड़कर दूसरे में मिलने को लुप्त अथवा लोप कहते हैं। जागृति जाग्रत होने से प्रथम चैतन्य में लुप्त रहती है। उस अवस्था में चैतन्य अपनी अविनाशी सत्ता से लुप्त जागृति की रक्षा करता हुआ विश्व की उत्पत्ति के आरम्भ में उसको जागृत करता है।

चैतन्य जागृति का आधार और रक्षक होने से उसका पति है। इसलिये वह पुरुष है, लेकिन जागृति का चैतन्य से गुण भिन्न है। इसलिए जागृत आधेय और रक्षित होने के कारण पुरुष से भिन्न स्त्री है। चैतन्य पुल्लिग और जागृति स्त्री-लिङ्ग है। उस स्त्री लिङ्ग जागृति, स्थिति और लुप्त तीनों अवस्थाओं का एक ही नाम प्रकृति है।

प्रकृति की तीन अवस्था होती हैं—जागृत, स्थिति और लुप्त। जब अचेतन प्रकृति चैतन्य की सत्ता से चेतन और ज्ञानमय होती है, तब उसको जागृत कहते हैं। अस्तित्व-रहित प्रकृति चैतन्य की सामर्थ्य से विश्व के स्वरूप में जो सत्य प्रतीत होती है, उसको स्थिति कहते हैं। प्रकृति अपने पूर्ण तमोगुण से जब विश्व के प्राकृतिक अस्तित्व को मिटाकर अन्धकार में लय कर देती है और उस अन्धकार को भी मिटाकर अन्तिम चैतन्य आधार में आधेय होकर चैतन्य

के सदृश हो जाती है, तब उसको लुप्त कहते हैं। क्योंकि उस अवस्था में वह अपना अस्तित्व मिटाकर चैतन्य के सदृश हो जाती है।

जब जागृति चैतन्य की सत्ता से ज्ञानमय होकर पोषित होती है, तब उससे विश्व की उत्पत्ति होती है। विश्व की उत्पत्ति के पश्चात् प्रकृति अपने पूर्ण तमोगुण से विश्व का नाश करती है, इसलिए प्रकृति का पूर्ण तमोगुण विनाश का हेतु है।

चैतन्य और जागृति के योग से अथवा पुरुष और प्रकृति के पोषित तमोगुण के संयोग से विश्व को उत्पन्न करने वाला स्वरूप उत्पन्न होता है। उसकी उत्पत्ति में पूर्ण चैतन्यता और जागृति के पोषित तमोगुण का सञ्चार आरम्भ होता है।

जागृति चैतन्य की सत्ता से पोषित होकर पोषित तमोगुण में बढ़ती है। उससे विश्व की उत्पत्ति होती है। तमोगुण के कारण विश्व परिवर्तनशील होता है, लेकिन चैतन्य नहीं होता। चैतन्य की सत्ता से जागृति पोषित तमोगुण में परिवर्तित होती है। उससे विश्व की स्थितियों अर्थात् ब्रह्माण्ड, पिण्ड, अण्ड, स्थावर, जंगम, जड़, चेतन आदि में भेद प्रतीत होने लगता है।

प्रकृति की क्रिया से स्थितियों में जब तमोगुण बढ़ते-बढ़ते इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह चैतन्य सत्ता से उनका सम्बन्ध विच्छेद कर देता है, तब स्थितियों की निर्माण

क्रिया विनाशी बनकर उनके आकार पर उग्र तमोगुण फैला देती है। सर्वनाश करनेवाले तमोगुण को उग्र तमोगुण कहते हैं। स्थितियों के नाश होने के पश्चात् नाश-क्रिया से उग्र तमोगुण का भी नाश होने लगता है और वह घटते-घटते कालान्तर में केवल सूक्ष्म गुण मात्र रहकर क्रियारूप शक्ति में समा जाता है। उस अवस्था में क्रिया शक्ति नाशिनी बनी रहती है। वह अपने विनाश-गुण से केवल शक्ति मात्र रहकर चैतन्य आधार में आधेय होने से चैतन्य की सत्ता से रक्षित होकर अविनाशी बन जाती है।

जिससे तमोगुण उत्पन्न होता है और जिसमें समाता है, उसको शक्ति कहते हैं।

३. महासत्त्वगुण—चैतन्य अविनाशी और सत्य है। सत्य होने से उसकी रक्षा-रूप अविनाशी सत्ता को सत्त्वगुण कहते हैं। उसीसे शक्ति रक्षित होकर विनाश-क्रिया से सृजन- क्रिया में परिवर्तित होती है और विश्व को उत्पन्न करनेवाली सृजन-क्रिया बनती है या अनन्त चैतन्य के जिस अंश में जागृत रूप में शक्ति अथवा प्रकृति रक्षित और ज्ञानमय होकर पोषित होती है, उसी को महासत्वगुण अथवा सत्त्वगुण कहते हैं।

चैतन्य के प्रकाश और जागृति के पोषित तमोगुण से, उस सूक्ष्म और असीम महासत्त्वगुण का स्वरूप विश्व की उत्पत्ति के आरम्भ में शरद ऋतु की प्रातःकाल पूर्व दिशा के गगन-

मण्डल की तरह शुक्ल प्रकाशमय होता है, क्योंकि प्रकाश में कुछ अन्धकार का योग होने से शुक्ल वर्ण होता है।

जैसे सफ़ेद वस्त्र में हलका-सा नीला रंग डालने से वस्त्र का शुद्ध शुक्ल वर्ण होता है, वैसे ही निर्मल शरद ऋतु की प्रातःकाल सूर्य के प्रकाश में हल्के अन्धकार का मिश्रण होने से पूर्व दिशा के गगन-मण्डल में शुद्ध शुक्ल प्रकाश उत्पन्न होता है।

ठीक उसी प्रकार चैतन्य के पूर्ण प्रकाश और प्रकृति के प्रथम पोषित तमोगुण से विश्व की उत्पत्ति के आरम्भ में महासत्त्वगुण का अति अद्भुत सौंदर्यमय दिव्य शुक्ल वर्ण होता है। उस में जागृति चेतन और ज्ञानमय होती है। भारतीय शास्त्रों में उस तत्त्व को महाविष्णु भी कहते हैं। सत्वगुण का शुक्ल वर्ण होता है।

यद्यपि प्रकृति अपने तमोगुण से जड़ और अज्ञान होती है तथापि सत्त्वगुण से उसको चेतनता और ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे दूध स्वतः जड़ और अज्ञान होता है, किन्तु बच्चे के आहार के साथ जब वह बच्चे के शरीर में प्रवेश करता है, तब बच्चे के शरीर के सत्त्वगुण से वही दूध शरीर बनकर चेतना और ज्ञान में बढ़ता है। यदि बच्चे के शरीर में चेतनता न हो अथवा मृतक बच्चा हो, उस अवस्था में दूध न तो शरीर होकर बढ़ेगा, और न वह ज्ञान प्राप्त करेगा, क्योंकि दूध प्रकृति

की तरह अपने आप जड़ और अज्ञान होता है। प्रकृति में यह स्वाभाविकता है कि वह अपने तमोगुण से जड़ रहती है और चैतन्य के सत्त्वगुण से चेतन और ज्ञानमय होती है।

आधाररूप सत्त्वगुण आधेयरूप प्रकृति के तमोगुण से आवृत्त होकर जागृत अवस्था में प्रवृत्त होता है। सत्त्वगुण ही विश्व को जागृत करने वाला है। उससे आधेय रूप प्रकृति. जाग्रत होकर विश्व को उत्पन्न करती है। विश्व की उत्पत्ति में प्रकृति की उस अवस्था को प्रथम अवस्था कह सकते हैं। अथवा उसको विश्व की बुद्धि-रूप प्रकृति कहना चाहिये। उस में विश्वमय चेतनता और विश्व-विकास का ज्ञान उत्पन्न होता है।

जैसे प्राणियों की उत्पत्ति के समय आत्मा में प्रथम बुद्धि-रूप प्रकृति आधेय होकर प्राणियों के स्थूल शरीर रचने का कारण बनती है, ठीक वैसे ही विश्व-उत्पत्ति के आरम्भ में चैतन्य के सत्वगुण-आधार में आश्रित रूप महा प्रकृति जागृत अवस्था में प्रथम विश्व की बुद्धि बनकर आगे विश्व का विकास करती है।

यद्यपि महाजागृति तमोगुणी होती है और वह सत्वगुण से पोषित होकर अपने गुण में बढ़ती रहती है. तथापि सत्त्वगुण के अनन्त प्रकाश के साथ उसके तमोगुण का जो योग होता है, वह अपने गुण को नहीं वर्त सकता, इसलिए सत्त्वगुण की सामर्थ्य से महाप्रकृति विश्व की उत्पत्ति में सतोगुणी और

दिव्यरूपा होती है। भारतीय शास्त्रों में प्रकृति की उस अवस्था को महालक्ष्मी कहते हैं। उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। वह जैसे-जैसे अपने गुण में बढ़ती रहती है, वैसे ही वैसे उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। महा सत्त्वगुण की सत्ता से पोषित और चेतन तमोगुण का बढ़ना ही महा जागृति का अपनी अवस्था में बढ़ना है। वह जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे ही वैसे विश्व का आकार बनता रहता है।

४. महारजोगुण—महा जागृति की पूर्ण तरुणावस्था में उसका तरुण अथवा (युवा) तमोगुणा, चैतन्य की सत्ता से पोषित और विकसित होने पर विश्व को रचनेवाला महा-रचनात्मक स्वरूप बनता है। सत्त्व और तम के समान मिश्रित योग से उसमें एक तीसरा गुण उत्पन्न हो जाता है। उसको महारजोगुण कहते हैं। उसमें उत्पादन शक्ति होती है, उसका वर्ण (स्वरूप) महासत्त्वगुण के प्रकाश और युवा तमो-गुण के सम्मिलित योग से सूर्योदय काल, पूर्व दिशा के गगन-मण्डल की तरह गौर हो जाता है।

प्रकाश और अन्धकार के समान मिश्रित योग से जो स्वरूप बनता है उसको गौर वर्ण कहते हैं, जैसे सूर्योदय के समय सूर्य का स्वरूप होता है। उससे भी कितने ही अधिक प्रकाशवान स्वरूप को गौर-वर्ण समझना चाहिए। भारतीय शास्त्रों में इस तत्त्व को ब्रह्मा नाम से कहा गया है। वह स्वरूप महारजोगुण (ब्रह्मा) की प्रथम अथवा बाल अवस्था का है।

महाचैतन्य प्रकृति से परे निर्गुण ब्रह्म है। वहां प्रकृति अपने गुण से केवल शक्ति-मात्र रहती है। वही ब्रह्म शक्ति को महाजागृत अवस्था में धारण करने से महासत्त्वगुण अथवा विष्णु बनता है। शक्ति महाजागृत अवस्था में अपने गुण से युक्त हो जाती है। महा सत्त्वगुण से प्रकृति को उस अवस्था में विश्वमय चेतनता और विश्वमय ज्ञान प्राप्त होता है। सत्त्वगुण की सामर्थ्य से प्रकृति का पोषित तमोगुण बढ़ने पर, वही ब्रह्मरूप सत्त्वगुण महारजोगुण (ब्रह्मा) बन जाता है। उसको विश्व का मन कहना चाहिये। उसमें विश्व-उत्पादक शक्ति उत्पन्न होती है।

५. महारचयित्री—महारजोगुण से महाजागृति में विश्वमय चेतनता और विश्वमय ज्ञान के साथ विश्व को बनाने वाली क्रिया-शक्ति उत्पन्न होती है अथवा रजोगुण में उत्पादक क्रिया-शक्ति पैदा होती है।

महारजोगुण के स्वरूप में जो तरुण अथवा युवा तमोगुण का योग होता है, वह रजोगुण की सत्ता से पोषित होकर फिर बढ़ता है। उसके बढ़ने से महारजोगुण भी प्रथम अवस्था से बढ़ते-बढ़ते कालान्तर में तरुणावस्था में प्रविष्ट होता है। उसकी पूर्ण तरुणावस्था में विश्व को रचनेवाली क्रिया-शक्ति उत्पन्न होती है। उसी से विश्व का निर्माण होता है। उस क्रिया-शक्ति को विश्वरचयित्री अथवा विश्व की इच्छा-शक्ति कहना चाहिए। भारतीय शास्त्रों में इस तत्त्व को

विद्या-रूप प्रकृति अथवा सरस्वती नाम से कहा गया है। विश्वरचयित्री की वह प्रथम अवस्था है। उसकी प्रथम अवस्था का स्वरूप, महारजोगुण की तरुणावस्था के स्वरूप से कुछ अधिक लाल-गौर होता है, क्योंकि उसमें तमोगुण कुछ अधिक बढ़ने से गौर वर्ण में कुछ लालिमा आ जाती है।

विश्वरचयित्री पोषित तमोगुण के कारण प्रथम अवस्था में बढ़ते-बढ़ते कालान्तर में तरुणावस्था में प्रविष्ट होती है। प्रकृति की उस अवस्था में समस्त विश्व के ब्रह्माण्ड, पिण्ड, अण्ड और जीव-जन्तुओं को स्थित करने वाले चौदह प्रकार के आकार उत्पन्न होते हैं। उनमें भिन्न-भिन्न चौदह प्रकार की प्रकाश और अन्धकार मिश्रित कलायें होती हैं।

प्रकृति, चैतन्य आधार में आधेय होकर, विश्व की उत्पत्ति और विनाश में उन्हीं चौदह प्रकार की प्रकाश और अन्धकार-मिश्रित कलाओं में परिवर्तित होती रहती है। उनके बिम्बों को भारतीय शास्त्रों में लोक कहते हैं। प्रकाश और अन्धकार की भिन्न-भिन्न न्यूनाधिकता से वे चौदह प्रकार के होते हैं।

चन्द्रमा के शुक्ल और कृष्ण दो पक्षों की तरह प्रकृति के भी शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष होते हैं। उसके शुक्ल पक्ष में सतोगुणी प्रकाशित कलाओं से विश्व की उत्पत्ति होती है और कृष्ण पक्ष में तमोगुणी अन्धकार से विश्व का विनाश होता है। इन का कार्य दिन और रात की तरह समझना चाहिये। जैसे दिन में सूर्य की प्रकाशित कलाओं से प्राणीमात्र चेतन

और जागृत होकर स्वकार्यों में प्रवृत्त होते हैं और रात्रि के अन्धकार से प्राणीमात्र निद्रा में लय हो जाते हैं।

प्रकृति की १४ प्रकार की जो कलायें विश्व को पैदा कर फिर विनाश करती हैं, उन्हीं के प्रकाश को लोक कहते हैं। उनका आकार १४ तिथियों के चन्द्रबिम्बों की भांति होता है। प्रकाश और अन्धकार की न्यूनाधिकता में जिस प्रकार एक ही चन्द्रबिम्ब प्रतिपदा से चतुर्दशी तक शुक्ल और कृष्ण पक्ष की १४ तिथियों में वृद्धि और ह्रास को प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार चैतन्य के प्रकाश और प्रकृति के अन्धकार मिश्रित १४ प्रकाश की लोक-कलाओं से महासत्त्वगुण पक्ष में विश्व-विराट् पैदा होकर उदित होता है और महातमोगुण-पक्ष में वह नाश होकर लुप्त हो जाता है।

महाप्रकृति के १४ लोकों के स्वरूप का अनुभव १४ तिथियों के चन्द्रबिम्बों पर हो सकता है। लोकों से विश्व की उत्पत्ति कैसे होती है ? इसे भी सुनिये। १४ तिथियों की भांति अथवा महाप्रकृति के १४ लोकों की तरह स्त्रियों की योनियों में भी १४ लोक होते हैं। स्त्रियों का रज उन्हीं योनी के १४ लोकों में शुक्ल और कृष्ण अथवा उत्पादक और विनाशक चक्र में घूमता रहता है।

रज का स्वभाव प्रकृति की तरह तमोगुणी होता है। वह स्त्रियों के ऋतुकाल में तमोगुण के कारण अमावास्या के चन्द्रबिम्ब की भांति नष्ट हो जाता है अथवा रज योनि से

पतित होता है। उसके पश्चात् शुक्ल पक्ष के चन्द्रबिम्बों में प्रकाश कलाओं की भांति प्रतिदिन योनि-लोक में उत्पादन क्रिया की एक-एक शुक्ल कला बढ़ती रहती है। उन्हीं दिनों शुक्र की चैतन्य सत्ता से रज तमोगुणी होने पर भी चेतन और पोषित होकर गर्भ में बच्चा बनता है। ठीक गर्भ में बच्चे की भांति महाप्रकृति की कलायें चैतन्य की सत्ता से चेतन और पोषित होकर विश्व को पैदा करती हैं।

महाजागृति महाचैतन्य की सत्ता से पोषित और चेतन होकर पोषित तमोगुण में बढ़ती है। उससे विश्व की समस्त रचना होती है। तमोगुण के कारण महाजागृति परिवर्तनशील होती है। इसीसे विश्व का परिवर्तन होता रहता है। महा-जागृति के उस परिवर्तन को काल अथवा समय कहते हैं। उससे विश्व अथवा प्राकृतिक सृष्टि,—जागृत, लुप्त, जीवन-मरण, बढ़ना-घटना आदि अनेक भेदों में परिवर्तित होती रहती है। उस परिवर्तन से विश्व की अवस्थायें बनती हैं, जिससे महाजागृति एक अवस्था में बढ़कर विश्व की उत्पत्ति करती है और दूसरी अवस्था में घटकर उसका विनाश करती है।

६. महाकाल—अथवा समय उसे कहते हैं जिससे प्राकृतिक सृष्टि आवागमन-चक्र में घूम रही है। काल का कार्य परिवर्तन है। काल अपने परिवर्तन-कार्य से प्रकृति को मुख्य तीन भेदों में परिवर्तित करता रहता है। उसी से प्रकृति सत्त्वगुण में

पोषित होकर बढ़ती है, रजोगुण में रचयित्री बनकर विश्व का सृजन करती है और तमोगुण में काली बनकर विश्व का विनाश करती है। काल से प्रकृति एवं प्राकृतिक संसार की ये तीन मुख्य अवस्थायें बनती हैं—(१) सत्त्वगुण—बाल अवस्था, जिसमें प्रकृति बढ़ती है। (२) रजोगुण—तरुणावस्था, जिसमें पुरुष और प्रकृति के योग से विश्व की अनेकता उत्पन्न होती है (३) तमोगुण—वृद्धावस्था, जिसमें अन्धकार बढ़ता रहता है।

काल से ही प्राणीमात्र की भी ये तीन अवस्थायें होती हैं—बाल, तरुण और वृद्ध। बाल अवस्था में प्राणीमात्र सत्त्वगुण से बढ़ते हैं। तरुणावस्था में रजोगुण से (पुरुष स्त्री के योग से) अनेक बच्चे उत्पन्न होते हैं और वृद्धावस्था में तमोगुण के कारण आंखों में अन्धकार आने से दृष्टि न्यून हो जाती है, त्वचा ढल जाती है, कान बहरे हो जाते हैं, वाणी ढीली पड़ जाती है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

७. **महाअवधि**—काल के स्वरूप में कुछ अधिक पोषित तमोगुण बढ़ने से अवधि उत्पन्न होती है। प्रकृति जितने काल तक एक गुण को बर्तती हुई बढ़ती है अथवा प्रकृति जितने समय तक एक गुण सम्बन्धी कार्य करती है, उसको अवधि अथवा अवस्था कहते हैं। निश्चित् व नियत उसका गुण है। यदि अवधि न होती तो काल के परिवर्तन से कोई भी वस्तु निश्चित् प्रतीत न हो सकती। अवधि से ही काल के परिवर्तन

का वेग धीरे-धीरे घूमता है, जिससे प्राकृतिक संसार की स्थिति निश्चित् प्रतीत होती है। प्राकृतिक संसार की बाल, तरुण, वृद्ध अथवा प्रथम, मध्यम और अन्त अवस्थायें अवधि से ही प्रतीत होती हैं। अवधि ही से प्रकृति की,—जाग्रत, रचयित्री और काली,—तीन अवस्थायें बनती हैं।

८. महाकर्म—अवधि में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने पर कालान्तर में महाकर्म उत्पन्न होता है। उसका कार्य प्रबन्ध है। कर्म से बन्धन-शक्ति पैदा होती है। कर्मबन्धन ही से विश्व के ब्रह्माण्ड, पिण्ड, अण्ड, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि अपने-अपने कार्यों में निर्धारित हैं। उसी से विश्व के कार्यों का ठीक-ठीक प्रबन्ध हो रहा है। महाकर्म को भारतीय शास्त्रों में इन्द्र कहते हैं।

९. महा आकाश—महाकर्म के पश्चात् कालान्तर में उसके पोषित तमोगुण के कुछ अधिक बढ़ने पर प्रबन्ध का आकार उत्पन्न होता है। भारतीय शास्त्रों में इस तत्त्व को महाकाश कहते हैं। उसके बनते ही उसमें शब्द पैदा हो जाता है। शब्द उसे कहते हैं, जिससे प्राणीमात्र में ध्वनि एवं वाणी और मेघों में गर्जना होती है। इसलिए आकाश में शब्द गुण होता है। महाकाश में ही विश्व धारित और विस्तृत होता है।

१०. महा वायु—महाकाश में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने पर कालान्तर में उसमें सञ्चालन शक्ति पैदा होती है। भारतीय शास्त्रों में इस तत्त्व को वायु कहते हैं। वायु अपनी

सञ्चालन अथवा वहने की शक्ति से विश्व के अन्तर्गत सबको स्पर्श करता है, इसलिए वायु में स्पर्श गुण आता है। विश्व में आदान-प्रदान की क्रियायें वायु से ही होती हैं।

११. महाअग्नि—महावायु के पश्चात् कालान्तर में उसमें पोषित तमोगुण के कुछ अधिक बढ़ने पर तेज उत्पन्न होता है। वायु में अधिक पोषित तमोगुण के कारण जब प्रबल धावन शक्ति पैदा होती है, तब उसकी तरंगों के परस्पर संघर्षण से वायु में तेज उत्पन्न हो जाता है। फिर वायु के कारण तेज के अणु परस्पर एकत्रित होने से तेज में प्रकाश होता है। इसको रूप भी कहते हैं। इसलिए वायु से तेज उत्पन्न होता है और तेज में रूप बन जाता है। इस तत्त्व को भारतीय शास्त्रों में महाअग्नि कहते हैं। अग्नि में रूप गुण आता है।

१२. महाजल—महाअग्नि के पश्चात् कालान्तर में उसमें कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने से, तेज में कुछ शीतलता आने पर भाप उत्पन्न होती है। भाप के कणों के परस्पर मिलने से रस उत्पन्न होता है। उस तत्त्व को भारतीय शास्त्रों में महाजल कहते हैं। अथवा तेज से भाप उत्पन्न होती है और भाप में नमी आने से जल बन जाता है। भाप, मेघ, समुद्र और नदियाँ ये सब जल के ही विभाग हैं। जल में रस गुण आता है। विश्व में समस्त रस जल से ही पैदा होते हैं।

१३. महापृथ्वी—उस तेजित महाजल के पश्चात् कालान्तर

में उसमें कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने पर कुछ शीतलता आ जाती है जिससे जल कुछ गाढ़ा होने लगता है और गाढ़ा बनते-बनते वह कालान्तर में हिम की भांति जम जाता है। हिम को अधिक समय तक गाढ़ापन प्राप्त होने से उसमें कीचड़ की भांति मृत्तिका-शक्ति पैदा होती है। मृत्तिका के अणुओं के परस्पर मिलने से हिम की तरह चमकीला कीचड़ बन जाता है। कीचड़ के पैदा होते ही उसमें गन्ध उत्पन्न होती है, जैसी घिसी चन्दन के सफेद कीचड़ में होती है। इससे भी अनन्त गुनी, रसमय, आह्लादकारी एवं अवर्णनीय गन्ध सत्य-ब्रह्मज्ञान की विकसित अवस्था में अनुभवगम्य होती है।

चमकीला कीचड़ भी कुछ काल पश्चात् सूख जाने पर सफेद सूखी मृत्तिका और चमकीले चट्टान बन जाती है। पुनः कालान्तर में श्वेत मिट्टी का भी रूपान्तर होकर भूरी मिट्टी बन जाती है। भारतीय शास्त्रों में उस तत्त्व को पृथ्वी कहते हैं। इस तरह पृथ्वी में स्थूलपन और गन्ध गुण आता है। समस्त गन्धें पृथ्वी तत्त्व से पैदा होती हैं। विश्व की उत्पत्ति में पृथ्वी १३वाँ तत्त्व है।

विश्व की उत्पत्ति में पृथ्वी तत्त्व बनने तक महाप्रकृति का पोषित तमोगुण बना रहता है। उसके उपरान्त वह धीरे-धीरे परिवर्तित होते हुए कालान्तर में उग्र तमोगुण बनकर विश्व का नाश करने वाला चौदहवाँ तत्त्व बन जाता है।

तत्त्व उसे कहते हैं जिसमें अपना निश्चित् गुण और शक्तियाँ होती हैं। तेरह प्रकार के तत्त्व, जिनसे विश्व का विकास होता है, संक्षेप में उनके नाम इस प्रकार हैं:— १. महाचैतन्य, २. महाजागृति, ३. महासत्त्वगुण, ४. महा-रजोगुण, ५. महारचयित्री, ६. महाकाल, ७. महाअवधि, ८. महाकर्म, ६. महाआकाश, १०. महावायु, ११. महाअग्नि, १२. महाजल, १३. पृथ्वी।

जहाँ तत्त्वों के साथ 'महा' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ उनके सब प्रकार के विभागों का एक साथ उच्चारण किया गया है।

प्रत्येक तत्त्व के अपने-अपने गुण और शक्तियाँ इस प्रकार हैं—(१) महाचैतन्य में पूर्ण गुण और सत्य शक्ति है, जिससे जड़ और असत् प्रकृति भी चेतन और सत्य प्रतीत होकर विश्व की उत्पत्ति करती है (२) जागृति में बोध गुण और विवेचन-शक्ति है (३) सत्त्वगुण में चेतन-गुण और चित्त-शक्ति है (४) रजोगुण में सृजन गुण और निर्माण-शक्ति है (५) रचयित्री में विकसित गुण और रचना-शक्ति है (६) काल में परिवर्तन गुण और चञ्चल शक्ति है (७) अवधि में स्थित गुण और निश्चित् शक्ति है (८) कर्म में बन्धन गुण और प्रबन्ध-शक्ति है (६) आकाश में शब्द गुण और धारण-शक्ति है (१०) वायु में स्पर्श गुण और धावन-शक्ति है (११) अग्नि में रूप गुण और

तेज शक्ति है (१२) जल में रस गुण और द्रवित शक्ति है (१३) पृथ्वी में गन्ध गुण और मृत्तिका (स्थूल) शक्ति है।

चौदहवाँ तत्त्व, जो महातमोगुण अथवा उग्रतमोगुण है, उसमें अन्धकार गुण और नाशिनी शक्ति है। उसी से समस्त विश्व के अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्डों का नाश होता है। वह समस्त विश्व का नाश करने के पश्चात् विश्व के आकार पर घोर अन्धकार रूप से रहता है। उसके पश्चात् अन्धकार भी अपनी विनाश-क्रिया से विनष्ट होकर घटते-घटते कालान्तर में केवल अति सूक्ष्म रूप से गुण मात्र रह जाता है। उसकी विनाश-शक्ति का नाम भारतीय शास्त्रों में महाकाली है।

महाकाली को धारण करने वाले और महाअन्धकार को समाने वाले महाचैतन्य के स्वरूप को भारतीय शास्त्रों में महेश कहते हैं। वह अपनी अविनाशी सत्ता से उग्रतमोगुण के विनाश से शक्ति को रक्षित करता है। उस शक्तिमान् चैतन्य को महेश कहते हैं। फिर कालान्तर में, विश्व की उत्पत्ति के आरम्भ में, वही शक्ति शिव की सत्ता से सत्त्वगुणी जागृति बनकर विश्व का सृजन करती है।

विश्व की उत्पत्ति और विनाश में अपने-अपने गुण और शक्तियों के योग से प्रत्येक तत्त्व के सत्त्व, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं—जैसे, १. महाचैतन्य के त्रिगुण भेद—विष्णु, ब्रह्मा और महेश, २. महाजागृति (प्रकृति) के त्रिगुण भेद—जागृति,

सृजनशक्ति और काली, ३. सत्त्व गुण के त्रिगुण भेद—उज्ज्वलता, चेतना और ज्ञान, ४. रजोगुण के त्रिगुण भेद—संकल्प, समाधान और विकल्प, ५. रचयित्री के त्रिगुण भेद—कला, क्रिया और विकास, ६. काल के त्रिगुण भेद—वर्तमान, भविष्य और भूत, ७. अवधि के त्रिगुण भेद—बाल, तरुण और वृद्ध, ८. कर्म के त्रिगुण भेद—सुख, शासन और दुःख, ९. आकाश के त्रिगुण भेद—धारण, शब्द और विस्तार, १०. वायु के त्रिगुण भेद—स्पर्श, धावन और शोषण, ११. अग्नि के त्रिगुण भेद—प्रकाश, तेज और दाह, १२. जल के त्रिगुण भेद—रस, द्रवित और भाप, १३. पृथ्वी के त्रिगुण भेद—गन्ध, मृत्तिका और छाया तथा १४. उग्रतमोगुण के त्रिगुण भेद—नाश, अन्धकार और पतन होते हैं।

पृथ्वी तत्त्व के उत्पन्न होने पर विश्व के समस्त स्थूल पिण्ड उत्पन्न हो जाते हैं। फिर पृथ्वी पोषित तमोगुण में बढ़ने के कारण अवस्था में प्रवृत्त होती है। उसकी बाल्यावस्था को सतयुग, तरुणावस्था को त्रेतायुग, अधेड़ अवस्था को द्वापरयुग और वृद्धावस्था को कलियुग कहते हैं।

चैतन्य के नित्य एवं एक होने पर भी विकारमय प्रकृति के संयोग से उसके तीन भेद प्रतीत होते हैं, जिनको विष्णु, ब्रह्मा और महेश कहते हैं। वे तीनों क्रमशः सत्त्व-रज-तम गुणों को धारण करने से अवस्था में प्रवृत्त होकर अपनी

अवधि तक बढ़ते हैं। प्रकृति की सत्त्व-रज-तम तीन अवस्थाओं से आवृत्त होने पर भी, तीनों एक ही चैतन्य के स्वरूप होने के कारण, ये प्राकृतिक अवस्था में भी पुल्लिङ्ग होते हैं।

प्रकृति के सत्त्व-रज-तम त्रिगुण भेद तीन महात्माओं अर्थात् महाविष्णु, महाब्रह्मा और महामहेश में आश्रित होने से एक ही क्रियारूप महाप्रकृति तीन महावस्थाओं अथवा जाग्रत, सृजन और लुप्तावस्था में प्रवृत्त होती है। महाप्रकृति की उन तीन अवस्थाओं को महालक्ष्मी, महासरस्वती और महाकाली कहते हैं। ये तीनों प्रकृतिरूपा होने से स्त्रीलिंग होती हैं।

इसी प्रकार पुरुष-प्रकृति के सम्मिश्रण सत्त्व-रज-तम तीन-तीन भेदों से परमात्मा के स्वरूप आत्मा में विश्व के अन्तर्गत स्थूल शरीरों में सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी अनेक पुरुष-स्त्री भेद पैदा होते हैं।

परमात्मा और आत्मा में कोई भेद नहीं, वे एक हैं। महाजागृति और शरीर जागृति के विकार से उनमें भेद जान पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा के सत्त्वगुण से विश्व की बोधित महाजागृति का सञ्चार होता है, उसी प्रकार जीवात्मा के सत्त्वगुण से शरीर बोधित शरीर-जागृति का सञ्चार उत्पन्न होता है, जिसको बुद्धि कहते हैं।

आत्मा चैतन्य है, क्योंकि वह महाचैतन्य परमात्मा का अंश है। वह नित्य एक और एक अवस्था में रहता है। किन्तु महाप्रकृति की भांति बुद्धि के सत्त्व, रज और तम तीन भेद होते हैं।

बुद्धि के मुख्य सत्त्व और तम दो ही भेद होते हैं क्योंकि रज, सत्त्व और तम के योग से, विश्व और शरीर रचने का कारण बनता है। इसलिए शरीर बोधित रजोगुणी बुद्धियों के, सत्त्व और तम की न्यूनाधिकता से, जीवात्मा में प्रधान दो ही भेद होते हैं अर्थात् सत्त्वगुणी शुक्ल बुद्धि और तमोगुणी काली बुद्धि।

इन दोनों प्रकार की बुद्धियों में प्रत्येक के मुख्यतः सात-सात भेद होते हैं। चौदह प्रकार के बुद्धि-भेदों के विस्तार में जीवात्मा शरीर को उत्पन्न करने का कारण बनता है।

चौदह बुद्धियों में से सात प्रकार की बुद्धियों में प्रकाश-कलाओं की क्रमशः अधिकता और अन्धकार की न्यूनता होती है और शेष सात प्रकार की बुद्धियों में क्रमशः अन्धकार की अधिकता और प्रकाश-कलाओं की न्यूनता होती है।

इनका ठीक-ठीक उदाहरण विश्व के चौदह लोकों अर्थात् चन्द्रमा की १४ तिथियों के चन्द्रबिम्ब में घटता है। जैसे शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा में अष्टमी से चतुर्दशी तक प्रत्येक तिथि के चन्द्रबिम्ब में प्रकाश-कलायें क्रमशः अधिक और अन्धकार

न्यून होता है, ऐसे ही सात प्रकार की रजोगुणी बुद्धियों के योग में क्रमशः प्रकाश-कलाओं की अधिकता और तमोगुण की न्यूनता होती है। इन प्रकाशमय सात प्रकार की शुक्ल बुद्धियों को दैविक अथवा सत्त्वगुणी बुद्धियाँ कहते हैं।

फिर, जैसे शुक्ल पक्ष की सप्तमी से प्रतिपदा तक चन्द्रबिम्ब में प्रकाश-कलाओं की क्रमशः न्यूनता और अन्धकार की अधिकता होती है, वैसे ही सात प्रकार की रजोगुणी बुद्धियों के योग में प्रकाश-कलाओं की क्रमशः न्यूनता और अन्धकार की अधिकता होती है। इन सात प्रकार की अन्धकारमय काली बुद्धियों को आसुरिक अथवा तमोगुणी बुद्धियाँ कहते हैं।

अथवा पूर्णमासी और अमावास्या को छोड़कर जिस प्रकार प्रत्येक पक्ष की चौदह तिथियों के चन्द्रबिम्बों पर प्रकाश और अन्धकार का योग होता है, उसी भांति चौदह प्रकार की बुद्धियों में प्रकाश-कलाओं और अन्धकार का भेद होता है। वे सब सत्त्व और तम के योग से रजोगुणी होती हैं।

अथवा जिस भांति विश्व की उत्पत्ति में महाचैतन्य के सत्त्व गुण और महाप्रकृति के तमोगुण के आधिक्य और न्यूनता से १४ लोकों में भेद होते हैं, उसी भांति परमात्मा के स्वरूप आत्मा में प्राणियों की भिन्न-भिन्न चौदह प्रकार की रजोगुणी बुद्धियों अथवा शरीर-जागृतियों का भेद होता है।

विश्व के चौदह लोकों की बोधित महाजागृतियों में और शरीर बोधित शरीर-जागृतियों के चौदह प्रकार के बुद्धि-भेदों में

केवल अधिकता-न्यूनता का अन्तर होता है। रजोगुण का सम्बन्ध उनमें समान रहता है।

सब प्रकार की बुद्धियाँ प्रकृतिरूपा होने से चञ्चल और परिवर्तनशील होती हैं। इसलिए सत्संग से वे प्रकाशित होती हैं और दुःसंग से तामसी अथवा काली होती हैं।

सात प्रकार की जो दैविक बुद्धियाँ होती हैं, उनमें भिन्न-भिन्न सात प्रकार के सत्त्वगुणी प्रकाश होते हैं। बुद्धियों के उन प्रकाशों को ज्ञान कहते हैं। उनके नाम सत्य, तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः हैं। इन्हीं ज्ञानों की प्रकाश-कलाओं से बुद्धियाँ प्रकाशित होकर सत्य-असत्य आदि विश्व के समस्त पदार्थों के रहस्यों को समझने में समर्थ होती हैं। प्रत्येक ज्ञान में विश्व के रहस्यों को समझने की भिन्न-भिन्न योग्यता होती है।

इसलिए भारतीय सभ्यता में दिन-रात की सन्धियों में, जिनमें प्रकाश और अन्धकार का संघर्ष होता है, 'सन्ध्या' में प्रथम 'ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यम्' कहते हैं। इस प्रकार इन सात प्रकार की ज्ञान-कलाओं का ध्यान कर उनको क्रमशः बुद्धि में धारण करते हैं, जिससे बुद्धि प्रकाशित होकर महाचैतन्य के प्रकाश में विश्व के रहस्यों को यथार्थ समझ सके, जैसे आँखों का प्रकाश सूर्य के प्रकाश में समस्त रूपों का दृश्य समझ सकता है।

यदि आँखों में प्रकाश न हो अर्थात् अन्धी हों, तो उन्हें सूर्य के प्रकाशित होने पर भी रूपों का दृश्य-ज्ञान नहीं हो सकता और न सम-विषम भूमि, नदी, पहाड़ आदि का ज्ञान हो सकता है । इसी भांति यदि बुद्धि में प्रकाश न हो तो महाचैतन्य के नित्य पूर्ण प्रकाशित होने पर भी बुद्धि को विश्व के यथार्थ रहस्यों का ज्ञान नहीं हो सकता, जिससे प्राणी प्राकृतिक संसार के अनेक दुःख और क्लेशों में फँस जाते हैं ।

इसलिए बुद्धि को प्रकाशित करने के लिए भारतीय सभ्यता में 'ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः और ॐ सत्यम्' इन सात प्रकार के ज्ञानों का स्मरण कर उन्हें बुद्धि में धारण करते हैं, जिससे प्रकाशित बुद्धि को महाचैतन्य के प्रकाश में सुख-दुःख आदि विश्व के समस्त रहस्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके ।

सुख-दुःख प्राणीमात्र के जीवन के मुख्य भोग हैं, जिनसे प्राणी सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का सदैव प्रयत्न करते रहते हैं ।

हम देखते हैं कि दिन में प्रकाश के कारण सर्वत्र घूमने-फिरने में स्वतः ही निर्भयता होती है और जो जैसा है, वह वैसा ही प्रतीत होता है । किन्तु रात्रि के घोर अन्धकार में बस्ती से बाहर जाने में स्वतः ही भय होता है और किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता । इस से स्पष्ट होता है कि प्रकाश में निर्भयता

है और उसका स्वरूप सुख है। अन्धकार में भय है और उसका स्वरूप दुःख है।

प्राणियों को इन दोनों के रहस्य बुद्धि के ज्ञान से ही विदित होते हैं। सुख की प्राप्ति में प्राणीमात्र सदैव प्रयत्नशील तो बने रहते हैं, किन्तु अज्ञानवश वे दुःख में ही फँसते जाते हैं।

बुद्धि की चेतन सत्ता का नाम ॐ है। इसलिए भूः, भुवः आदि ज्ञानों के नामों के साथ प्रथम ॐ लगाया जाता है, जिससे बुद्धि को प्रकाशमय चेतनता प्राप्त हो सके।

विश्व के सत्त्वगुणी सप्त लोकों के भी ये ही नाम हैं,— लोक अर्थात् प्रकाश करने वाले। इसलिए विश्व को प्रकाशित करनेवाले सप्तलोकों और बुद्धियों को प्रकाशित करनेवाले सप्त ज्ञानों के नाम भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् हैं।

मानसिक बुद्धि अधिकतर भू लोक में रहती है, इसीलिए संध्या में प्रथम भू ज्ञान को स्मरण कर बुद्धि में धारण किया जाता है और फिर विश्व के रहस्यों को जानने के लिये क्रमशः भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् ज्ञानों को स्मरण कर बुद्धि में धारण किया जाता है। चन्द्रबिम्ब को पूर्ण प्रकाशित करने वाली पूर्णिमा की भांति बुद्धि को पूर्ण प्रकाशित करने वाले ज्ञान का नाम सत्य है।

भारतीय सभ्यता में बुद्धि को प्रकाशित करने के लिए संध्या में प्रथम 'ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यम्' कहा जाता है, और फिर उन प्रकाशित बुद्धियों से

महाचैतन्य के प्रकाश का ध्यान करने के लिए—'ॐ भू-र्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'—कहते हैं।

सात प्रकार की जो आसुरी बुद्धियाँ होती हैं, उनमें अन्धकार अधिक और प्रकाश-कलायें न्यून होती हैं। बुद्धियों के उन अन्धकारों को अज्ञान कहते हैं। वे भी आसुरी बुद्धियों के साथ विभिन्न सात प्रकार के होते हैं। उनके नाम अतल, वितल. सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल हैं। विश्व के तमोगुणी सप्त लोकों के भी यही नाम हैं।

बुद्धि के रजोगुण में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने से कालान्तर में मन उत्पन्न होता है। बुद्धि के १४ भेद होने से मन के भी चौदह भेद होते हैं। मन अपनी बुद्धि के अनुसार रजोगुण धारण करता है। मन के उस रजोगुण को स्वभाव कहते हैं।

मन रजोगुणी होता है। उसकी बुद्धि (प्रकृति) के रजोगुण में सत और तम की जैसी न्यूनाधिकता का सम्बन्ध होता है, वैसा ही मन का स्वभाव बनता है। स्वभाव भी चौदह प्रकार के होते हैं। उनमें से सात प्रकार के दैवी और सात प्रकार के आसुरी होते हैं। मन का स्वभाव बुद्धि के ज्ञान-अज्ञान पर निर्भर होता है।

मन के रजोगुण से सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की रचना होती है। मन शरीर का ब्रह्मा है। जिस भांति विश्व की रचना

का कारण महारजोगुण ब्रह्मा है, उसी भांति शरीर रचने का कारण मन होता है। महाब्रह्मा और शरीर-ब्रह्मा (मन) में केवल समष्टि-व्यष्टि का अन्तर होता है। रजोगुण के सम्बन्ध से उनमें कुछ भी अन्तर नहीं होता।

महाब्रह्मा के अन्तर्गत चौदह लोकों के रचयिता चौदह लोक-ब्रह्मा होते हैं अथवा चौदह प्रकार के विभिन्न रजोगुणी प्रकाश होते हैं। उनको मनु भी कहते हैं। उनकी रचना तक महा-रजोगुण ब्रह्मा की अवस्था होती है।

जिस भांति विश्व के अन्तर्गत चौदह लोकों के रचयिता विभिन्न चौदह प्रकार के प्रकाश होते हैं, उसी भांति प्राणियों के शरीर-रचयिता मन के स्वभाव भी मुख्यतः १४ प्रकार के होते हैं। प्रत्येक स्वभाव में मन को सञ्चालित करने की भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता होती है।

मन के रजोगुण में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने से इच्छा उत्पन्न होती है। महारजोगुण से उत्पन्न होने वाली विश्व की रचयित्री को सरस्वती एवं विश्व-सृजन-शक्ति कहते हैं और मन से उत्पन्न होने वाली शरीर-रचयित्री को इच्छा कहते हैं। मन से इच्छा उत्पन्न होती है। उसके रजोगुण में मन के रजोगुण से कुछ अधिक पोषित तमोगुण होता है।

इच्छा के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीन भेद होते हैं। इच्छा के रजोगुण में कुछ पोषित तमोगुण के बढ़ने से

शारीरिक काल उत्पन्न होता है। उसके रजोगुण में इच्छा के रजोगुण से अधिक तमोगुण होता है। वह परिवर्तनशील होता है। उसके तीन भेद होते हैं। विश्व के अन्तर्गत उसके तीन महा भेदों के नाम—जाग्रत्-काल, रचना-काल और विनाश-काल हैं।

विनाश-काल छिपा हुआ अथवा बीता हुआ काल, जिसे भूतकाल भी कहते हैं। रजोगुण के क्रिया-काल को वर्तमान काल कहते हैं और जाग्रत होनेवाले काल को भविष्य काल कहते हैं। इसी भांति सूक्ष्म भूतों के साथ भी उनके उत्पन्न-काल, क्रिया-काल और लोप-काल तीन भेद होते हैं।

स्थूल शरीर के अन्तर्गत भी काल के बाल, तरुण और वृद्ध मुख्य ये तीन भेद होते हैं। इन प्रत्येक अवस्थाओं का परिवर्तन काल से होता रहता है।

काल के रजोगुण में जो पोषित तमोगुण होता है, वह अपने स्वभाव में बढ़ता है। उससे अवधि उत्पन्न होती है। काल के रजोगुण से अवधि के रजोगुण में पोषित तमोगुण अधिक होता है। समस्त विश्व और प्राणि मात्र की अवस्थायें उसी से बनती हैं। उसके सतोगुण से विश्व की जाग्रत् अवस्था और प्राणियों की बाल अवस्था होती है। रजोगुण से विश्व की रचना और प्राणियों की तरुणावस्था होती है। तमोगुण से विश्व की और प्राणियों की वृद्धावस्था होती है। समस्त

अण्ड, पिण्ड और ब्रह्माण्डों की अवस्थायें अवधि से बनती हैं और काल से वे चञ्चल होती हैं।

अवधि में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने से कर्म बनता है अथवा इच्छा में काल और अवधि के होने से कर्म बनता है। बिना काल और अवधि के केवल इच्छा ही से कर्म नहीं बनता, इसलिए अवधि के रजोगुण में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने पर कर्म बनता है।

विश्व के अन्तर्गत महाकर्म के सत्त्वगुण से सुख का विस्तार, रजोगुण से क्रिया का विस्तार और तमोगुण से दुःख का विस्तार होता है।

इसी प्रकार शरीर के अन्तर्गत प्राणियों को सतोगुणी कर्म से सुख, रजोगुणी कर्म से क्रियाओं की उत्पत्ति और तमोगुणी कर्म से बन्धन और दुःख होता है।

विश्व में महातत्त्वों और पिण्डों का शासन व प्राणियों के शरीरों में शारीरिक तत्त्व और इन्द्रियों का बन्धन कर्म से होता है। उसका स्वरूप पुरुषमय है, इसलिए वह पुल्लिङ्ग है।

काल और कर्म के योग से अथवा कर्म के रजोगुण में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने से आकार बनता है। विश्व के उस आकार को महाकाश और शरीर-आकार को शरीर-आकाश कहते हैं।

विश्व के अन्तर्गत महाकाश के सत्त्वगुण से धारण-शक्तियां हैं, जिनसे पिण्ड अपने आप आकाश में धारित हैं। रजोगुण से शब्द और आकर्षण शक्तियां हैं, जिनसे पिण्ड परस्पर संबन्धित रहते हैं। शब्द में भी आकर्षण शक्ति होती है और तमोगुण से विस्तार उत्पन्न होता है।

इसी भांति शारीरिक-आकाश के सतोगुण से प्राणियों में स्मरण-शक्ति, कानों में शब्द-बोध-शक्ति और शारीरिक नाड़ियों में धारणा-शक्ति उत्पन्न होती है। रजोगुण से शब्द पैदा होता है और तमोगुण से शरीर का फैलाव, मोह, शोक, अहङ्कार, उन्माद और विस्मृति पैदा होते हैं। शरीर बढ़ने के साथ मोह, शोक, अहङ्कार, उन्माद और विस्मृति भी बढ़ते हैं।

स्मरण-शक्ति के विस्तार को हृदय कहते हैं। उसका स्थान स्मरण-शक्ति से कान तक होता है। इसलिए शब्द का बोध कान से होता है और वह टिकता स्मरण शक्ति में है। स्मरण शक्ति को शब्द-धारण-शक्ति भी कह सकते हैं, क्योंकि वह महाकाश की तरह शब्द को धारण करती है।

हृदय के स्मृति और विस्मृति दो भेद होते हैं। इसी भांति कानों के भी शब्द-बोध और शब्द-अबोध दो भेद होते हैं। जिन कानों में शब्द को धारण करने की शक्ति होती है, उनसे शब्द का बोध होता है और वे शब्द को हृदय की स्मरण-शक्ति तक पहुंचा सकते हैं। दूसरे प्रकार के जो कान होते हैं, उनकी

शब्द-धारण-शक्ति नष्ट हो जाती है। इसलिए उनसे शब्द का बोध नहीं हो सकता और वे शब्द को स्मरण-शक्ति तक नहीं पहुँचा सकते। उन्हें बहरे कान कहते हैं।

शारीरिक आकाश-तत्त्व के सतोगुण से प्रथम शारीरिक नाड़ियों की धारणा-शक्ति बनती है जो समस्त शरीर में जाल की भांति फैलकर शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को हृदय की स्मरण-शक्ति की ओर आकर्षित किये हुए रहती है अर्थात् खींचे हुए रहती है। हृदय नाड़ियों का केन्द्र-स्थान है। वे हृदय से शरीर के प्रत्येक अवयवों में फैली हुई होती हैं। शरीर में बहुत-सी नाड़ियां इतनी सूक्ष्म होती हैं कि उनको देखना और उनकी गति का ज्ञान करना बहुत कठिन है। नाड़ियों को शरीर की धारण-शक्तियाँ कह सकते हैं, क्योंकि वही तमाम शरीर के अवयवों को धारण करती हैं। जिस प्रकार महाकाश महातत्त्व और पिण्डों को धारण करता है, उसी प्रकार नाड़ियां भी शारीरिक तत्त्वों और अङ्गों को धारण करती हैं।

नाड़ियों के बनते ही फिर शारीरिक आकाश तत्त्व के रजोगुण से शारीरिक शब्द उत्पन्न होता है। वह समस्त शरीर में फैलता है। प्राणियों के शरीर में उस के प्रधान सात भेद होते हैं अर्थात् कण्ठ में वाणी-शब्द, पेट में आंतों द्वारा होने वाला शब्द, गुदा में पाद-शब्द, कान में कर्ण-शब्द, नासिका में नासिका-शब्द, शरीर में शरीर हिलने का शब्द और शरीर टकराने से अचानक शब्द।

इनके भी दो भेद होते हैं,—सार्थक और निरर्थक। कण्ठ-शब्द के अतिरिक्त अन्य छः प्रकार के जो शब्द शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों से होते हैं, वे सब निरर्थक होते हैं। कण्ठ-शब्द भी सार्थक और निरर्थक दो प्रकार के होते हैं। कण्ठ-शब्द के शब्द-काल में वाणी की यथार्थ क्रिया से सार्थक और यथार्थ क्रिया के बिना निरर्थक शब्द होता है। सार्थक शब्द के भी मुख्य सात भेद होते हैं। कण्ठ-शब्द के शब्द-काल में वाणी जब अपनी सीमा के सात स्थानों में क्रिया करती है, तब उनका ज्ञान होता है।

वाणी जिन सात स्थानों में सार्थक शब्द के लिए क्रिया करती है, उनको कण्ठ, तालू, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, जिह्वामूल और नासिका कहते हैं। इनमें भी शब्द के लिए वाणी-क्रिया के मुख्य पांच स्थान हैं—कण्ठ, तालू, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ।

सार्थक शब्द के लिए इन स्थानों में से प्रत्येक में वाणी की क्रिया से सात-सात प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न होती हैं, जैसे वाणी की क्रिया से कण्ठ में उत्पन्न होने वाली ध्वनियों के सात भेद—क, ख, ग, घ, ङ, ह और : (विसर्ग) हैं।

तालू में उत्पन्न होनेवाली ध्वनियों के सात भेद - च, छ, ज, झ, ञ, य और श हैं।

मूर्धा में उत्पन्न होने वाली ध्वनियों के सात भेद—ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष हैं।

दन्त में उत्पन्न होने वाली ध्वनियों के सात भेद—त, थ, द, ध, न, ल और स हैं।

ओष्ठ में उत्पन्न होने वाली ध्वनियों के छः भेद—प, फ, ब, भ, म और व हैं।

ध्वनियों के इन भेदों को व्यञ्जन कहते हैं। इनमें भी प्रत्येक बारह प्रकार से उच्चारित किये जाते हैं। जैसे क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः अथवा अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः कहते हैं। इनको स्वर कहते हैं। अर्द्ध चन्द्राकार और उपध्वनियों के भी छः प्रकार के स्वर हैं। वे भी व्यञ्जनों के साथ लगाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त ऋ, ॠ, ऌ, ॡ चार स्वर ऐसे हैं, जिनका केवल अपना उच्चारण हो सकता है, किन्तु अन्य बारह स्वरों की भांति प्रत्येक व्यञ्जन के साथ इनका उच्चारण नहीं हो सकता। केवल ऋ स्वर की मात्रा व्यञ्जनों के साथ लगती है।

वाणी के दो स्थान, जो जिह्वामूल और नासिका हैं, उनमें जिह्वामूल से उपध्वनियों अथवा नुक्ता सम्बन्धी ध्वनियों और नासिका से पञ्चमवर्ग सम्बन्धी ध्वनियों का बोध होता है। जैसे अं, ङ, ञ, ण, न, म। इन ध्वनियों का उच्चारण नासिका-स्थान से होता है और उपध्वनियों की उत्पत्ति-क्रिया जिह्वामूल से होती है।

सब व्यञ्जनों और स्वरों के योग से सार्थक शब्द की सीमा बनती है। प्राणी-मात्र के कण्ठ से शब्द पैदा होते हैं और

सब शब्दों का स्वरूप एक ही तरह का होता है। किन्तु शब्दों की सार्थकता में प्राणीमात्र की वाणियों की क्रिया से भेद होता है। इसी भांति समस्त मनुष्यों के कण्ठ में शब्द एक ही प्रकार का है, किन्तु वाणी की क्रिया से उनमें भाषान्तर होता है।

मनुष्य मात्र एक जाति होने पर भी, उनकी सार्थक-वाणी में विभिन्नता आने से, अनेक भाषायें पैदा होती हैं। जैसे रानी, क्वीन और बेगम तीनों में शब्द का अर्थ एक ही तरह का होता है, किन्तु तीनों में शब्द के साथ भिन्न-भिन्न स्थानों में वाणी क्रिया करती है, इसलिए तीनों में भाषान्तर होता है।

रानी शब्द में वाणी मूर्धा और दन्त से क्रिया करती है। क्वीन शब्द में कण्ठ, ओष्ठ, दन्त और बेगम शब्द में ओष्ठ, कण्ठ-ओष्ठ से।

मनुष्यमात्र के कण्ठ से शब्द एक ही तरह का होने पर भी वाणी-क्रिया में विभिन्नता आने से मनुष्य-समुदाय की भाषा में अनेक भाषान्तर हो गये।

विभिन्न भाषाओं के भिन्न-भिन्न भाषा-कोष बनाए गये और उनको सुगमता से निर्माण करने के लिए अनेक प्रकार की लिपियां निकाली गईं।

वाणी निराकार है। निराकार का अर्थ है जिसमें लम्बाई, चौड़ाई और रूप न हो। वाणी आकाश तत्त्व से उत्पन्न होती है, इसलिए वाणी और आकाश तत्त्व में रूप नहीं होता। वाणी निराकार से साकार बनाई गई। वाणी का साकार रूप

लिपि है। साकार का अर्थ लम्बाई, चौड़ाई और रूप उत्पन्न होना है, इसलिए लिपि में वाणी का रूप उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य रजोगुणी होते हैं। उन को सर्वप्रथम उत्पन्न करने वाले महारजोगुण को ब्रह्मा कहते हैं। उस महापुरुष ब्रह्मा ने सर्वप्रथम जिस लिपि में वाणी को सार्थक बनाया, मनुष्यों का परम कल्याण करने वाली वह वेद की लिपि है अर्थात् वह लिपि है जिसमें वेद लिखे गये हैं। वेद उस रहस्यमय कोष को कहते हैं, जिसके द्वारा मनुष्यों को सब कुछ विदित हुआ अर्थात् ज्ञान हुआ।

वेद और उसको रचनेवाली विद्या मनुष्यों की सर्वप्रथम सभ्यता है। सन्सार में ये दोनों मनुष्य मात्र के हैं। ये वर्तमान किसी जाति विशेष या व्यक्ति विशेष के नहीं, क्योंकि मनुष्यों को सर्व कार्यों का ज्ञान वेद से ही हुआ। वेद मनुष्यों को सर्वप्रथम उत्पन्न करने वाले महापुरुष की वाणी है। मनुष्यों में अनेक मत-मतान्तर एवं जातियां हैं। सब उसी पितामह की सन्तान हैं और सब जातियाँ अथवा मनुष्य मात्र परस्पर भाई हैं।

जिस प्रकार एक ही पुरुष की सन्तान के परिवार में एक या दो ही पीढ़ियों में उनके रहन-सहन, आचार-विचार में अन्तर आ जाता है, उसी प्रकार अनन्त काल से संसार में फैली हुई समस्त मनुष्य जाति, एक ही महापुरुष ब्रह्मा की सन्तान होने

पर भी, आचार-विचारों में भिन्नता आने से अनेक मत-मतान्तरों और वर्णों में विभक्त हो गईं।

शब्द आकाश के रजोगुण से प्राणियों के कण्ठ में पैदा होता है, वाणी से सार्थक बनता है और उत्पन्न होते ही महाकाश में फैलता है। महाकाश अपने सत्त्वगुण से उसके फैलाव को धारण करता है। शब्द आकाश में जितना अधिक फैलता है, उतना ही शीघ्र आकाश के तमोगुण से विच्छिन्न हो जाता है।

शब्द जब तक महाकाश के सत्त्वगुण में रहता है, तब तक सतोगुणी कानों को उसका बोध होता है, परन्तु जब वही शब्द महाकाश में फैलने के कारण तमोगुण से विच्छिन्न हो जाता है, तब कानों को उस का ज्ञान नहीं हो सकता।

समस्त उत्पन्न होने वाले शब्द महाकाश की धारण-शक्ति में या प्राणियों के हृदय में आधेय होकर रहते हैं।

शरीर-आकाश तत्त्व के तमोगुण से प्राणियों के शरीर का विस्तार होता है। शरीर-विस्तार के साथ स्मरण-शक्ति भी विस्तृत होती है, जिससे उसमें तमोगुण बढ़ता रहता है। उस तमोगुण के दो भेद होते हैं,—प्रथम मोह और दूसरा विस्मृति। ये दोनों स्मरण-शक्ति के तामस स्थान में आधेय होकर रहते हैं। स्मरण-शक्ति के कुछ फैलाव से मोह पैदा होता है और अधिक फैलाव से विस्मृति होती है। मोह और विस्मृति

से शोक उत्पन्न होता है। विस्मृति और शोक से उन्माद पैदा होता है। उसके दो भेद होते हैं--उन्माद और अहङ्कार।

कानों का तामसी अथवा बहरापन भी शरीर-आकाश तत्त्व के तमोगुण से होता है। तमोगुण के कारण उनकी शब्द-धारणा-शक्ति नष्ट हो जाती है, इसलिए उनसे शब्द का बोध नहीं हो सकता। तमोगुण के कारण उनमें पहुंचा हुआ शब्द हृदय की स्मरण-शक्ति तक नहीं पहुंच सकता। वह बीच में ही रुककर उन कानों से बाहर महाकाश की धारण-शक्ति में समा जाता है।

शारीरिक आकाश तत्त्व के सत्त्वगुण से प्राणियों में स्मरण-शक्ति, कानों में शब्द धारण-शक्ति और शारीरिक नाड़ियों की धारण-शक्ति होती है तथा रजोगुण से शब्द, वाणी और तमोगुण से शारीरिक विस्तार, मोह, विस्मृति, शोक, उन्माद, अहङ्कार और कानों का बहरापन होता है।

शारीरिक आकाश अथवा शरीर-आकार उत्पन्न होते ही उसके रजोगुण में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने से शारीरिक वायुतत्त्व उत्पन्न होता है। महावायु की भांति उसके भी सत, रज, तम तीन भेद होते हैं।

शारीरिक वायुतत्त्व के सत्त्वगुण से शरीर की बनावट में प्रथम त्वचा के अवयव उत्पन्न होते हैं। फिर दिल बनता है और दिल से फिर प्राणवायु की क्रिया पैदा होती है।

रजोगुणी भेद से शारीरिक बल और हस्त-पाद-क्रिया पैदा होती है। तमोगुण से त्वचा का ढलना, हस्त-पाद क्रियाओं का ढीला पढ़ना, चिन्ता और भय पैदा होते हैं।

दिल के उत्पन्न होते ही उसके तीन भेद होते हैं,—ज्ञान-शक्ति, विचार-शक्ति और क्रिया-शक्ति।

ज्ञान-शक्ति दिल से त्वचा तक, विचार-शक्ति दिल से मस्तिष्क तक और क्रिया-शक्ति दिल से प्राण की सीमा तक सम्बन्ध रखती है।

शरीर की बनावट में प्रथम वायुतत्त्व से त्वचा के अनन्त अवयव उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक अवयव को एक-एक सूक्ष्म नाड़ी धारण करती है। नाड़ियाँ त्वचा के अवयवों से दिल में, वहाँ से मस्तिष्क के विचार स्थान में, और फिर वहाँ से हृदय की स्मरण-शक्ति में पहुँची हुई रहती हैं। स्मरण-शक्ति के समीप ही विचार-शक्ति होती है। जिस प्रकार शारीरिक आकाश तत्त्व से शरीर-वायुतत्त्व उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार स्मरण-शक्ति से विचार-शक्ति पैदा होती है।

दिल की ज्ञान-शक्ति दिल से त्वचा के अवयवों में फैली हुई रहती है। प्रत्येक अवयव की एक-एक सूक्ष्म नाड़ी होती है, जिसके द्वारा त्वचा के छूने, काटने और शीतोष्ण का ज्ञान दिल में पहुँचता है। शीतोष्ण और छूने, काटने का ज्ञान त्वचा के अवयवों से होता है और उन के परिणाम को नाड़ियाँ दिल में पहुँचाती हैं।

त्वचा के जो अवयव होते हैं, वे सब महावायुमंडल से वायु का शोषण करते हैं और उस वायु को अपनी नाड़ियों द्वारा समस्त शरीर में बहाते हैं। उसी से शरीर में रुधिर की गति बनती है। जिस प्रकार वायु आकाश में बहता रहता है, उसी प्रकार वह शरीर में भी बहता है।

नाड़ियाँ त्वचा के स्पर्श-ज्ञान को शरीर में बहने वाले वायु द्वारा ही दिल में, दिल से मस्तिष्क के विचार-स्थान में और वहाँ से स्मरण-शक्ति में पहुँचाती हैं। नाड़ियों की गति भी शरीर में बहने वाले वायु से ही बनती है।

स्पर्शज्ञान करनेवाले त्वचा के अवयव प्राणियों के शरीर में सर्वत्र फैले रहते हैं। उन्हीं के द्वारा दिल को शीतोष्ण, छूने, काटने इत्यादि विभिन्न प्रकार के स्पर्शों का ज्ञान होता है। त्वचा के अवयवों को केवल स्पर्शज्ञान होता है। स्पर्श के परिणाम का ज्ञान दिल के द्वारा विचार और स्मरण शक्तियों को होता है। दिल की विचार-शक्ति शारीरिक तत्त्वों और महातत्त्वों के स्पर्श-ज्ञान का विचार करती है और उन के परिणाम को स्मरणशक्ति में पहुँचाती है।

शरीर के अवयवों द्वारा ग्रहण किये हुए वायु की गति से गर्भ में प्राणियों के दिल की क्रिया-शक्ति उत्पन्न होती है। वह महावायुमण्डल से वायु को खींचकर शरीर में प्राण का सञ्चालन करती है। शरीर में सञ्चालन करने वाले समस्त वायु

के मुख्य पाँच भेद होते हैं – प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान।

प्राणादि पाँचों वायु वास्तविक दिल की एक ही क्रिया-शक्ति से उत्पन्न होते हैं और शरीर में भिन्न-भिन्न क्रियायें करते हैं। दिल की उन सब क्रियाओं का एक ही नाम प्राण है। अन्य वायु उसी के भेद हैं। सब वायु प्राणवायु से पैदा होते हैं और मरणावस्था में सब प्राणवायु में मिलकर विछिन्न हो जाते हैं। पाँचों वायु प्राणियोंके शरीर में इस प्रकार क्रिया करते हैं—

पहिला—प्राणवायु, जो दिल से नासिका के अग्र भाग तक महावायुमण्डल से सम्बन्ध रखता है। अन्य वायु जो शरीर के प्रत्येक अवयवों में क्रिया करने से दूषित होते हैं, वह उन को प्राणियों के शरीर से बाहर महावायुमण्डल में फेंकता है और महावायुमण्डल से वायु लेकर फेफड़े और दिल में पहुंचाता है। उस का विस्तार दिल और फेफड़े से नासिका के अग्रभाग तक होता है। फेफड़े के अन्तर्गत दिल और नासिका के अग्र भाग के बाहर महावायुमण्डल होता है अर्थात् प्राण वायु दिल से महावायुमण्डल तक सम्बन्ध रखता है।

दूसरा—दिल से गुदा तक रहने वाले वायु को अपान वायु कहते हैं। प्राणियों के शरीर में मल-मूत्र उतरने की क्रियायें इसी से होती हैं।

तीसरा—दिल से सारे शरीर में विचरने वाला व्यान वायु

है। शरीर में रस, रुधिर की गति इसी से बनती है। शरीर के अवयवों के काटे जाने पर रुधिर का बहाव भी इसी से होता है।

चौथा—कण्ठ में रहनेवाला उदान वायु है। इससे अन्न, जल निगला जाता है। वह कण्ठ से शब्द को भी फैलाता है। उदान वायु के तीन भेद होते हैं, जिनसे वमन, जमुहाना और छींकना होता है। इन तीनों में शब्द होता है और शब्द की उत्पत्ति कण्ठ से होती है। इसलिए ये तीनों उदान वायु से उत्पन्न होते हैं।

पाँचवाँ—समान वायु है, जो प्राणियों के पेट में अन्न-जल का रस, रुधिर और मल-मूत्र में विभाजित करता है।

प्राणवायु के पश्चात् फिर शरीर में वायुतत्त्व के रजोगुण से शारीरिक बल पैदा होता है। त्वचा में जो वायु तत्त्व के अवयव होते हैं, उन्हीं की पुष्टि से शरीर में बल का सञ्चार होता है। बल से फिर हस्त, पाद-क्रियायें बनती हैं। हस्त, पाद-क्रियायें शारीरिक बल पर ही निर्भर होती हैं, इसलिए हस्त क्रिया और पादक्रिया का केन्द्र शारीरिक बल होता है। शरीर में बल जितना न्यूनाधिक होगा, उतनी ही हस्त-पाद से क्रियायें भी न्यूनाधिक होंगी। बल त्वचा के प्रत्येक अवयव में फैला हुआ रहता है और उस के अनुसार हस्त-पाद की क्रियायें होती हैं।

हस्तक्रिया लेना-देना, पाँव-क्रिया से चलना-फिरना इत्यादि समस्त शारीरिक क्रियायें शरीर-वायु-तत्त्व के रजोगुण और महावायुमण्डल के योग से होती हैं।

शरीर-वायु-तत्त्व के रजोगुण में प्राणी बाल अवस्था से तरुणावस्था तक जैसे-जैसे पल, घड़ी, दिन, माह और वर्ष अधिक बढ़ते हैं। उतना ही अधिक शरीर का विस्तार बढ़ता है। उतनी ही अधिक त्वचा के अवयवों की पुष्टि होती है, उतना ही अधिक शारीरिक बल बढ़ता है और उतना ही अधिक शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों से होने वाली क्रियायें होती हैं। शारीरिक वायु तत्त्व के मध्य रजोगुण में शरीर की मध्य तरुणावस्था होती है। उसमें शरीर का सबसे अधिक लम्बा-चौड़ा विस्तार बनता है और शरीर के अंग-प्रत्यङ्ग अधिक पुष्ट होते हैं।

तरुणावस्था के पश्चात् शारीरिक वायु तत्त्व के रजोगुण में क्रमशः तमोगुण अधिक बढ़ने लगता है। उस तमोगुण के अधिक बढ़ने से वृद्धावस्था में त्वचा ढल जाती है, बल घटने लगता है और हस्त-पाद-क्रियायें ढीली पड़ जाती हैं। दिल में चिन्ता और भय भी शारीरिक वायु तत्त्व के तमोगुण से पैदा होता है। चिन्ता और भय से प्राणी सूखते और भागते हैं। त्वचा का लूलापन भी शारीरिक वायु तत्व के तमोगुण से होता है।

प्राणियों के शरीर में वायु तत्व के सत्वगुण से उत्पन्न होने

वाली स्पर्श-ज्ञान के साधन त्वचा को ज्ञानेन्द्रिय और रजोगुण से उत्पन्न होने वाली क्रिया के साधन हस्त-पाद को कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं।

प्राणियों से जितनी भी शारीरिक क्रियायें होती हैं, वे सब शारीरिक वायु-तत्व और महा वायु तत्व के योग से होती हैं। जैसे कान में शब्दबोध की शक्ति है, किन्तु उसमें शब्द को शब्द के स्थान से महा वायु पहुँचाता है और कान से हृदय के स्मरण-स्थान तक उसको शरीर-वायु तत्व पहुँचाता है।

त्वचा में स्पर्शज्ञान है, किन्तु शीत, उष्ण के स्थान से उनको महा वायु ग्रहण करके त्वचा में पहुँचाता है। त्वचा शारीरिक वायु द्वारा उनके परिणाम को दिल में पहुँचाता है।

आँखों में प्रकाश है, परन्तु उसका फैलाव महा वायुमण्डल से होता है, जिससे दृष्टि को दृश्यमान सीमा में रूप का बोध होता है।

जिह्वा में रस-बोध-शक्ति है, परन्तु रस-शोषण-शक्ति उसको शारीरिक वायु तत्व और महा वायुतत्व के योग से प्राप्त होती है। रस को जिह्वा से मेदा में भी शारीरिक वायुतत्व पहुँचाता है।

मलमूत्र को त्यागने की क्रिया भी शारीरिक वायु तत्व से होती है।

नासिका में घ्राणशक्ति है, किन्तु सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेदों को उनके स्थानों से महा वायु उड़ाकर नासिका में पहुँचाता

है। नासिका से शारीरिक वायु तत्व उनके परिणाम को दिल में और दिल से मस्तिष्क में पहुँचाता है।

हाथों का लेना-देना आदि समस्त हस्त-क्रियायें शारीरिक वायु तत्व और महा वायु तत्व के योग से होती हैं। पैरों का चलना-फिरना आदि समस्त पाद-क्रियायें शारीरिक वायु तत्व और महा वायु तत्व के योग से होती हैं।

वाणी कंठ से उत्पन्न होती है। महा वायु उसको महाकाश में फैलाता है। वहाँ से शारीरिक वायु तत्व उसको शारीरिक आकाश के कानों में पहुँचाता है।

मस्तिष्क में विचारने की क्रिया और प्राण वायु का बाहर भीतर विचरना, ये सब क्रियायें भी शारीरिक वायु तत्त्व और महा वायु तत्त्व के योग से होती हैं।

वायु तत्त्व के सत्त्वगुण से प्राणियों के शरीर में त्वचा, दिल, मस्तिष्क, रजोगुण से प्राण-बल हस्त-पाद-क्रियायें और तमोगुण से चिन्ता, भय, त्वचा का ढलना और लूलापन होता है।

शारीरिक वायु तत्त्व के उत्पन्न होते ही उसके रजोगुण में कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने से शारीरिक अग्नि तत्त्व उत्पन्न होता है। उसके सत्त्वगुण से प्रथम प्राणियों के शरीर का रूप बनता है। शरीर में रूप के सत्त्व, रज, तम तीन भेद होते हैं—

पहला—शारीरिक अग्नि तत्त्व के सत्त्वगुण से नेत्रों में प्रकाश उत्पन्न होता है।

दूसरा—शारीरिक अग्नितत्त्व के रजोगुण से शरीर में जठराग्नि पैदा होती है।

तीसरा—शारीरिक अग्नितत्त्व के तमोगुण से क्रोध उत्पन्न होता है।

प्राणियों के नेत्रों के प्रकाश तीन प्रकार के होते हैं। सृष्टि में कुछ प्राणी ऐसे हैं जिनके नेत्रों के प्रकाश को प्रकाश के विस्तार में रूप का बोध होता है। जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा इत्यादि।

कुछ प्राणी ऐसे हैं जिनके नेत्रों को अन्धकार के विस्तार में रूप का बोध होता है। जैसे उलूक पक्षी आदि अनेक निशाचर।

कुछ प्राणी ऐसे हैं जिनके नेत्रों को प्रकाश और अन्धकार दोनों के विस्तार में रूप का बोध होता है। जैसे बिल्ली, व्याघ्र, शेर आदि।

विश्व के अन्तर्गत महा अग्नि से उत्पन्न होने वाले समस्त रूपों के भी प्रधान तीन ही भेद होते हैं। रूप के सत्त्वगुण से प्रकाशमय, दिव्य और शुक्ल, तमोगुण से काले और नीले और रजोगुण से गोरे और लाल रङ्ग-रूप उत्पन्न होते हैं।

अन्य जितने भी रङ्ग-रूप विश्व के अन्तर्गत हैं, इन्हीं के मेल से पैदा होते हैं।

रूपों का बोध करने वाले प्राणियों के नेत्रों का प्रकाश भी तीन प्रकार का होता है—सत्त्वगुणी प्रकाश, तमोगुणी प्रकाश और रजोगुणी प्रकाश।

सत्त्वगुणी प्रकाश से उत्पन्न होने वाले नेत्रों को प्रकाश के विस्तार में रङ्ग-रूप का बोध होता है।

तमोगुणी प्रकाश से उत्पन्न होने वाले नेत्रों को अन्धकार के विस्तार में रङ्ग-रूप का बोध होता है।

रजोगुणी प्रकाश से उत्पन्न होने वाले नेत्रों को प्रकाश और अन्धकार दोनों के विस्तार में रङ्ग-रूपों का बोध होता है।

सृष्टि में श्वेत, पीले, काले, नीले, गोरे, रक्त, हरे इत्यादि समस्त रङ्ग-रूप, प्राणियों के रूप और नेत्रों के प्रकाश अग्नि तत्त्व के स्व-सम्बन्धित गुण से उत्पन्न होते हैं। इसलिए नेत्रों से रङ्ग-रूप का बोध होता है।

पृथ्वी के गर्भ की अग्नि महा अग्नि के रजोगुण से और प्राणियों में जठराग्नि शारीरिक अग्नि तत्त्व के रजोगुण से उत्पन्न होती है। जठराग्नि शरीर के अवयवों में फैली हुई रहती है। वह प्रथम शरीर-वायु तत्त्व के केन्द्र-स्थान दिल से उत्पन्न होती है और वहाँ से शरीर के प्रत्येक अवयव में फैलती है।

जठराग्नि उदर में खाद्य पदार्थों को भस्म करती है। साँस-

वायु के द्रव्य व पीने-खाने के पदार्थ खाद्य पदार्थ होते हैं। सब प्रकार के खाद्य पदार्थों में जो जहरीले अंश होते हैं, जठराग्नि उनको भी भस्म करती है। उनके सूक्ष्म तमोगुण से प्राणियों में क्रोध उत्पन्न होता है।

यद्यपि जठराग्नि खाद्य पदार्थों के जहरीले अंश को भस्म कर देती है तथापि भस्म हुआ जहरीला अंश तमोगुण में परिणत होकर प्राणियों में क्रोध बनता है। •

जिन खाद्य पदार्थों में अधिक जहरीला अंश होता है, वे जठराग्नि को या तो बुझा देते हैं, जिससे प्राणियों की मृत्यु होती है या जठराग्नि को मन्द कर देते हैं, जिससे प्राणी बीमार होते हैं। जठराग्नि की विकृति से शरीर में ताप पैदा होता है।

क्रोध दिल के अग्नि-स्थान में निवास करता है। बढ़ने पर वह आँख, मुँह, हाथ और पांव तक फैलता है। आँखों में फैलने से वह उन्हें लाल-पीली बनाता है।

मुंह में फैलने से वह भयंकर शब्द अथवा कटुवाणी उत्पन्न करता है और दाँतों को कटकटाता व पीसता है। हाथ, पाँव में फैलने से वह मार-पीट और उछलना-कूदना करता है।

अग्नि तत्त्व के सत्त्वगुण से प्राणियों के शरीर में रूप, नेत्रों में प्रकाश और वनस्पतियों एवं सकल पदार्थों में रङ्ग उत्पन्न होते हैं।

अग्नि तत्त्व के रजोगुण से प्राणियों के मुँह तथा जठराग्नि और आकाश, वायु, जल, पृथ्वी के गर्भ की अग्नि पैदा होती है।

अग्नि तत्त्व के तमोगुण से दाहकशक्ति और प्राणियों के शरीर में क्रोध उत्पन्न होता है।

प्राणियों के स्थूल शरीर में रूप के तीन भेद होते हैं। सत्त्वगुणी भेद से शुक्ल और प्रकाशवान रूप बनते हैं, तमोगुणी भेद से काले और नील रूप पैदा होते हैं और रजोगुणी भेद से गौर और लाल रूप पैदा होते हैं।

अग्नि तत्त्व के रजोगुण में पोषित तमोगुण के कुछ अधिक बढ़ने पर शारीरिक जल तत्व पैदा होता है। वह अग्नि तत्व के तेज से द्रव्य बनकर प्रथम रस बनता है। उसको शरीर में विचरने वाला वायु नाड़ियों द्वारा शरीर के प्रत्येक अवयव में प्रवाहित करता है। उस रस के सत्त्व, रज, तम—तीन भेद होते हैं।

उसके सत्त्वगुण से प्राणियों की रसना बनती है। विश्व के अन्तर्गत खट्टे, मीठे, खारे, कड़ुवे इत्यादि जितने रस होते हैं, सब महा जल तत्त्व के सत्त्वगुण अंशों से पैदा होते हैं। प्राणियों की रसनाओं और समस्त रसों की बनावट में जल तत्व का स्व-सम्बन्धित गुण होता है अथवा समस्त रसों की ज्ञान-शक्ति से रसना की उत्पत्ति होती है इसलिए विश्व के

अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले समस्त रसों का ज्ञान प्राणियों को रसना के द्वारा होता है।

खाने-पीने और साँस लेने से जिस रस का आहार होता है, वह प्रथम प्राणियों के अन्नकोष में पहुँचता है। वहां से दिल के जल कोष में पहुंचकर पृथक्-पृथक् तीन भागों में विभाजित होता है। प्रथम भाग, जिसमें रस का सत्वगुण होता है, वह दिल के जलकोष से फेफड़े में पहुंचता है और वहां से रसना में पहुंच कर उसमें रस-ज्ञान-शक्ति की वृद्धि करता है। अथवा जल का सत्त्वगुण-भाग प्रथम दिल के जल-कोष में पहुंचता है, वहां से फेफड़े में और फेफड़े से रसना में पहुंचता है।

प्राणियों के शरीर में जल तत्त्व, उनके पीने-खाने और साँस लेने के पदार्थों के जल-विभाग से बढ़ता है। शरीर में जल तत्त्व का जो रजोगुणी भाग होता है, वह शारीरिक अग्नि तत्त्व के रजोगुण से द्रव्य बनकर रक्त-रूप धारण करता है अर्थात् प्राणियों के शरीर में विचरने वाले रस का लाल रङ्ग बनता है, जिसको रक्त व रुधिर कहते हैं।

रजोगुणी शारीरिक रस के भी तीन पृथक्-पृथक् भेद होते हैं—रुधिर, पसीना और मूत्र। रस का रजोगुणी भाग दिल के जलकोष से प्रथम जठराग्नि के केन्द्र में पहुंचता है। वहाँ वह जठराग्नि से रस बनकर द्रवित हो जाता है। वहां से फिर रजोगुणी वायु के केन्द्र में पहुंचता है।

दिल के जिस स्थान में प्राण और समान वायु का मेल होता है, वह रजोगुणी वायु का केन्द्र स्थान है। वहां से रस रजोगुणी वायु के कारण बहकर लिंगस्थान में पहुंचता है। वहां रस परिपक्व बनकर रुधिर बनता है। उसके परिपक्व भाग से लिंग की क्रिया-शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिए शारीरिक जल तत्त्व के रजोगुणी अंश से लिंग उत्पन्न होता है। लिंग के मूल में लिंग-क्रिया के भेद हैं। प्रथम भेद वाली क्रिया रुधिर बनाती है और उस को नाड़ियों के द्वारा शरीर के प्रत्येक अवयव में पहुंचाती है। लिंग की क्रिया से रुधिर बनाने में जितना रस अनरस हो जाता है अथवा उसमें रजोगुणी अंश का अभाव होने से केवल तमोगुणी जल रह जाता है, उसको लिंग की दूसरी तामसी क्रिया लिंग के मूत्र-कोष में जमा करती है। वहाँ मूत्र को, उसकी सीमा से अधिक बढ़ने पर, लिंग द्वारा बाहर फेंकती है।

जिन प्राणियों के शरीर में लिंग की रजोगुण-क्रिया के स्थान में तमोगुण उत्पन्न हो जाता है, उनके लिंग-स्थान में रस के पहुँचने से रुधिर की यथार्थ क्रिया नहीं बनती। तमोगुण के कारण वह रस अनरस होकर लिंग-क्रिया के समीप जमा हो जाता है। इसी से जलन्धर रोग होता है।

शरीर में गति करने वाले रुधिर में किसी प्रकार कुछ तामसता आने से प्राणियों के शरीर में पसीना पैदा होता है, जो त्वचा

के छिद्रों द्वारा शारीरिक वायु तत्त्व के कारण बाहर को बहता है।

मूत्र और पसीना के रुकने से या रुधिर के सूखने से प्राणियों में आलस्य उत्पन्न होता है। उसका फैलाव दिल से रुधिर की सीमा तक होता है। आलस्य आ जाने से रुधिर की ग.त मंद हो जाती है, जिससे प्राणी अपने उद्देश्य से शिथिल हो जाते हैं।

जल के सत्त्वगुण से प्राणियों के शरीर में रसना, तमोगुण से आलस्य और रजोगुण से लिंग उत्पन्न होता है। लिंग की रजोगुण-क्रिया से शरीर में जल तत्त्व के तीन भेद होते हैं—रुधिर, पसीना और मूत्र।

लिग के रजोगुणी स्थान में तमोगुण उत्पन्न होने से प्राणियों के शरीर मे जल सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं।

शुक्र और रज में भी शारीरिक जल तत्त्व का अधिक भाग होता है, किन्तु वे केवल शरीर-जल तत्व से ही नहीं बनते। शुक्र जल के साथ शारीरिक तत्त्वों के सत्त्वगुण से और रज जल के साथ शारीरिक तत्त्वों के तमोगुण से युक्त होता है। शारीरिक जल तत्व के उत्पन्न होते ही उसमें कुछ अधिक पोषित तमोगुण के बढ़ने से जल में कुछ गाढ़ापन आ जाता है और उसमें ठीक उसी तरह गन्ध-गुण आ जाता है, जैसे बासी जल अथवा कीचड़ में गन्ध पैदा होती है। इससे शारीरिक पृथ्वी तत्व उत्पन्न हो जाता है।

शारीरिक पृथ्वी तत्त्व के उत्पन्न होते ही उसमें महा पृथ्वी के समस्त गन्धगुण आ जाते हैं। उसके सत्त्व, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं।

उसके सत्त्वगुण भेद से प्राणियों के शरीर में घ्राणशक्ति उत्पन्न होती है, जो महा पृथ्वी तत्त्व से उत्पन्न होने वाले सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि समस्त गन्ध-विभागों का बोध करती है। घ्राण शारीरिक पृथ्वी तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है। प्राणियों को उसी से, महा पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली समस्त गन्धों का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है।

शारीरिक पृथ्वी तत्त्व के रजोगुण से गुदा बनती है। माँस बनने से पहिले शरीर में जो चीज बनती है, उसको गुदा कहते हैं। गुदा के दो भाग होते हैं—उसके प्रथम भाग से आंते, अमाशय, फेफड़ा, कलेजा और दिल का स्थूलपन बनता है। आँतों की जड़ में जो मलद्वार होता है, उसमें पारथव्य रजोगुण की क्रिया-शक्ति बनती है। जिससे मल उतरता है, उसको भी गुदा कहते हैं और वह शारीरिक पृथ्वी तत्त्व की कर्मेन्द्रिय है।

मांस वाले गुदा के दूसरे भाग से नाड़ियों का स्थूलपन, मांस, चर्म, अस्थि, नाखून, बाल और दांत उत्पन्न होते हैं। मज्जा, शुक्र और रज का स्थूलपन भी पृथ्वी तत्त्व से बनता है।

शारीरिक पृथ्वी तत्त्व के तमोगुण से प्राणियों में निद्रा उत्पन्न होती है। शारीरिक पृथ्वी तत्व उत्पन्न होते ही उसमें छाया अथवा परछाईं पैदा हो जाती है।

परछाईं आकाश, वायु, अग्नि में नहीं आ सकती। जल में भी परछाईं तभी आ सकती है, जब उसमें पृथ्वी का गुण आ जाता है। कुहरा या बादल की हालत में पानी के छोटे-छोटे अणु जमकर एक तरह की छोटी-छोटी पृथ्वियां बन जाती हैं। इसलिए उनके झुण्डों से छाया बनती है। परन्तु जब तक कुहरा या बादल भाप के रूप में हवा में रहते हैं अथवा जल पृथ्वी गुण धारण नहीं करता, तब तक उससे छाया उत्पन्न नहीं होती। इसलिए छाया पृथ्वी तत्त्व से पैदा होती है।

जिस तरह रात्रि में महा पृथ्वी अपनी छाया से अपने को ढक लेती है, उस तरह शारीरिक पृथ्वी तत्त्व की आभ्यन्तर छाया प्राणियों की चेतना-शक्ति को ढक लेती है। इसी को निद्रा कहते हैं।

प्राणीमात्र प्रायः अधिकतर रात्रि को ही सोते हैं। रात्रि को पृथ्वी छाया धारण करती है, इसलिए अधिकतर रात्रि में ही प्राणियों को निद्रा ढकती है। प्राणियों में शारीरिक पृथ्वी तत्त्व के सत्त्वगुण से घ्राण, रजोगुण से गुदा और तमोगुण से निद्रा उत्पन्न होती है।

इसी तरह महाचैतन्य की चैतन्य सत्ता से और सब तत्त्वों

के सत्त्व, रज, तम गुणों के प्रभाव से पृथ्वी पर प्रथम मनुष्य स्थूल शरीर में पुरुष उत्पन्न हुआ। उसमें शुक्र की उत्पत्ति हुई। शुक्र पुरुष प्राणियों के शरीर में महा चैतन्य की चेतना और सब तत्त्वों के सतोगुणी अंशों से उत्पन्न होता है।

उसके पश्चात् पोषित प्रकृति और सब तत्त्वों की उत्पादन शक्ति से मनुष्य स्थूल शरीर में स्त्री उत्पन्न हुई। उसमें रज की उत्पत्ति होती है। रज स्त्रियों के खाद्य पदार्थों के पोषित तमोगुण से बनता है। उसके दो भेद होते हैं:—शुक्ल और कृष्ण। जिन प्राणियों के स्थूल शरीर में शुक्र की उत्पत्ति होती है, वे स्थूल शरीर में पुरुष होते हैं और जिन प्राणियों के स्थूल शरीर में रज की उत्पत्ति होती है, वे स्थूल शरीर में प्रकृति अथवा स्त्रियां होती हैं।

स्त्रियों के रज से उत्पन्न होने वाले प्राणियों की, (महा प्रकृति की लक्ष्मी, सरस्वती, काली—तीन अवस्थाओं की तरह) बाल, तरुण और वृद्ध तीन अवस्थायें होती हैं। बाल्यावस्था लक्ष्मी, तरुणावस्था सरस्वती और वृद्धावस्था काली है। पुरुष-प्राणियों की भी बाल, तरुण और वृद्ध ये तीन अवस्थायें रज के विकार से होती हैं, जिससे गर्भ में स्थूल शरीर बनता है।

जिस प्रकार महा प्रकृति लक्ष्मी (बाल) अवस्था से सरस्वती (तरुण) अवस्था तक अपने अन्तर्गत पोषित तमोगुण से महाचैतन्य आधार में विश्व की उत्पत्ति के लिए चौदह प्रकार

की विभिन्न चौदह लोक-कलायें उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार स्त्रियों की बालावस्था से तरुणावस्था तक उनकी योनियों में रज के पोषित तमोगुण से विभिन्न चौदह प्रकार की पोषित तमोगुणी कलाओं का सञ्चार उत्पन्न होता है। उन्हीं की क्रियाओं से गर्भाधान में बच्चों के स्थूल शरीर का आकार बनता है।

स्त्रियों की बालावस्था में रज उत्पत्ति के लिए समर्थ नहीं हो सकता। उस अवस्था में केवल रज की चौदह प्रकार की कलाओं का आकार बनता रहता है, जिनको चौदह योनी-लोक कहना चाहिए। इसलिए स्त्रियों की बालावस्था में बच्चों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

स्त्रियाँ बाल अवस्था से जब तरुणावस्था में प्रविष्ट होती हैं, तब वे भी महा प्रकृति की तरह सरस्वती रूपा होती हैं। जिस तरह महा प्रकृति अपनी सरस्वती अवस्था में विश्व को उत्पन्न करने वाली चौदह प्रकार की क्रियाओं का विकास करती है, उसी तरह स्त्रियों की तरुणावस्था में उनके गर्भ में भी बच्चों के शरीर को उत्पन्न करने वाले रज के चौदह प्रकार के उत्पादक क्रिया भेदों का विकास होता है। जिस प्रकार महा प्रकृति की रचना और विनाश दो गतियां होती हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के रज की भी रचना और विनाश दो गतियां होती हैं।

जिस भांति महा प्रकृति रचना-गति में चैतन्य सत्ता से

विश्व की उत्पत्ति करती है और विनाश-गति में विश्व का विनाश कर महा चैतन्य में लुप्त होती है, उसी भांति स्त्रियों की योनियों में रज की सृजन-शक्ति, शुक्र की चैतन्य सत्ता से गर्भ के चौदह लोक-आकार में प्राणियों के स्थूल शरीर की रचना करती है और विनाश-गति में गर्भ में लुप्त रहती है। जिसमें स्त्रियों की योनियां शुक्र को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होतीं, वह रज की विनाश-गति है।

महा चैतन्य के सत्त्वगुण-प्रकाश-आधार में महा प्रकृति अपने उत्पादक तमोगुण से रचना - गति में चौदह लोकों की उत्पत्ति करती है और विनाश-गति में चौदह लोकों के आकार पर अन्धकार फैलाते हुये चैतन्य में लुप्त होती है। उसके स्वरूप का ठीक उदाहरण चन्द्रबिम्ब पर घटता है। पूर्णमासी के पूर्ण प्रकाश और अमावास्या के पूर्ण अन्धकार के योग से शुक्ल और कृष्ण पक्ष की अन्य चौदह-चौदह तिथियाँ होती हैं अथवा जैसे चन्द्रबिम्ब तीस दिन के चक्र में घूमकर पूर्णमासी सहित पन्द्रह दिन का शुक्ल पक्ष और अमावास्या सहित पन्द्रह दिन का कृष्ण पक्ष करता है, उसी प्रकार महा प्रकृति के शुक्ल पक्ष में उसके चौदह लोकों में विश्व की उत्पत्ति होती है और उसके कृष्ण पक्ष में चौदह लोकों में अन्धकार बढ़ जाने से विश्व का विनाश होता है।

सरस्वती स्त्रियों की योनियों में भी रज का तीस दिन का भ्रमण होता है। रज के भी शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष

होते हैं। उसके शुक्ल पक्ष में रचना और कृष्ण पक्ष में विनाश-शक्ति होती है। रज अपने शुक्ल पक्ष में अपनी सृजन-शक्ति से स्वजातीय शुक्र को ग्रहण कर उसकी सत्त्वगुण-सत्ता से चेतन और पोषित होकर गर्भ में बच्चों का स्थूल शरीर बनाता है। परन्तु रज अपने कृष्ण पक्ष में शुक्र को ग्रहण करने में असमर्थ होता है।

स्त्रियों की योनियों के शुक्ल पक्ष में उज्ज्वल और कृष्ण पक्ष में रक्त रज होता है।

जिस भांति अमावास्या के पूर्ण तमोगुण से नष्ट चन्द्र के उपरान्त चन्द्रमा का शुक्ल पक्ष होता है, वैसे ही स्त्रियों की योनियों में रज का पूर्ण तमोगुणी रक्त नष्ट होने के उपरान्त उसका शुक्ल पक्ष होता है। उसी में उत्पादन-शक्ति होती है, जिससे रज उन दिनों स्वजातीय शुक्र को ग्रहण कर गर्भ में बच्चों का स्थूल शरीर रचने में समर्थ होता है।

जिस भांति पूर्णमासी के पूर्ण प्रकाश के उपरान्त चन्द्रबिम्ब का कृष्ण पक्ष होता है, वैसे ही स्त्रियों की योनियों में रज भी पूर्ण उज्ज्वल होने के उपरान्त कृष्ण गति की ओर बढ़ता है। रज की उस गति में न तो शुक्र को ग्रहण करने और न प्राणियों के शरीर रचने की शक्ति होती है। इसलिए रज की कृष्ण गति में गर्भ में बच्चों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

जिस तरह स्त्रियों की तरुणावस्था में, उनके गर्भ में बच्चों की उत्पत्ति के पश्चात्, कुछ काल के लिए रज की उत्पादन

क्रिया विनष्ट होकर योनि में लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार महा प्रकृति अपनी सरस्वती अवस्था में चौदह लोकों की उत्पत्ति के पश्चात् अल्प लोक और अल्प जीवों का विनाश कर अल्प प्रलय करती है।

रज में जो सृजन और विनाश-गति होती है, उन्हीं के योग से उत्पन्न होने वाले प्राणियों का स्थूल शरीर जीवन और मरण के चक्र में घूमता है। गर्भ से बच्चों के पैदा होने के पश्चात् स्त्रियों की योनियों में रज की वे दोनों प्रकार की गतियाँ कुछ काल के लिए विनष्ट हो जाती हैं और उनके स्थान में अन्धकार तमोगुण भर जाता है।

स्त्रियों की तरुणावस्था में रज महा प्रकृति की सरस्वती अवस्था की भांति गर्भ में कई बार बच्चों की उत्पत्ति करता है और कई बार गर्भ में विनाश गुण धारण कर अल्प प्रलय करता है अर्थात् उत्पादन क्रिया से गर्भ में बच्चों की उत्पत्ति करता है और उनकी उत्पत्ति के पश्चात् गर्भ में कुछ काल के लिए विनाश गुण धारण कर योनि-लोकों की अल्प प्रलय करता है।

स्मरण रहे कि स्त्रियों का उत्पादक रज जब स्वजातीय शुक्र को ग्रहण करता है, तब वह गर्भ में स्थूल शरीर की अवस्था को प्राप्त होता है। रज की जो शुक्ल और काली दो प्रकार की गतियां होती हैं, उनमें से प्रथम शुक्ल गति शुक्र की

चैतन्य सत्ता से गर्भ की स्थिति करती है और उसके पश्चात् काली गति भी शुक्र की सत्ता से उत्पादन-शक्ति में मिल जाती है। उन दोनों गतियों के कार्य से गर्भ में बच्चों के स्थूल शरीर की रचना होती है।

गर्भ में प्राणियों का पूर्ण शरीर बनने पर फिर वे दोनों गतियां स्त्रियों के शरीर में पृथक्-पृथक् कार्यों में विभाजित हो जाती हैं। काली गति का रज अपने तमोगुण से गर्भ से बच्चों को बाहर फेंकता है और शुक्ल गति का रज शुक्ल वर्ण से दूध में परिणत होकर स्त्रियों के स्तनो में पहुंचता है।

जिस प्रकार बच्चों के पोषणार्थ स्त्रियों के सर्वांग रस से स्तनों में दूध एकत्रित होता है, वैसे ही विश्व के पोषणार्थ महा प्रकृति के सर्वांग से चन्द्रमा में सोम रस एकत्रित होता है, जो पृथ्वीतल में वायु, जल और वनस्पतियों में उतर कर खाद्य-पदार्थों द्वारा प्राणियों का पोषण करता है।

उत्पत्ति के लिये रज की निम्नलिखित तीन प्रकार की गतियां होती हैं:—

प्रथम—रज की शुक्ल गति के तमोगुण से स्त्रियों के गर्भ में बच्चों के शरीर जाग्रत होते हैं और काली गति के तमोगुण से शरीर में मृत्यु का सञ्चार होता है।

द्वितीय—स्त्रियों का शारीरिक रस उनकी योनियों में रज बनकर शुक्ल और काली दो प्रकार की गतियों में भ्रमण करता

है। बच्चों की उत्पत्ति के समय उसकी काली गति के रजोगुणी रस में जो सत्त्व गुण का योग होता है, वह शुक्ल गति के रजोगुणी रस में सम्मिलित होता है और शुक्ल गति के रजो-गुणी रस में जो तमोगुण का योग होता है, वह काली गति के रस में मिल जाता है। इसलिए काली गति का रस बच्चों के उत्पत्ति काल में रक्त बनता है और शुक्ल गति का रस स्तनों में पहुंचकर शुक्ल वर्ण से दूध बनता है।

तृतीय—स्त्रियों की योनियों में जो रज शुक्ल और काली दो प्रकार की गतियों में बराबर भ्रमण करता है, वह उनके सारे शरीर में विचरने वाले रस की परिपक्व अवस्था में बनता है। स्त्रियों के शारीरिक रस का रजोगुणी परिपक्व स्थान योनि है।

स्त्रियों के शरीर में भ्रमण करने वाला रस परिपक्व अवस्था में उन की योनियों में पहुंचता है और वहां रज में परिणत होता है।

स्त्रियों की वृद्धावस्था काली अवस्था है। उस अवस्था में रज की शुक्ल और काली दोनों प्रकार की गतियां विनष्ट हो जाती हैं, जिससे उनमें बच्चा उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती है।

तरुणावस्था में भी कुछ स्त्रियाँ कालीरूपा होती हैं। उनकी योनि में रज की विनाश-क्रिया बनी रहती है। ऐसी स्त्रियों के भी तीन भेद होते हैं। उनमें से कुछ स्त्रियां नपुंसक

होती हैं, जिनकी योनि में रज की शुक्ल और काली दोनों प्रकार की गतियां नहीं बनतीं, एक तीसरे ही प्रकार की विनाश-गति उत्पन्न हो जाती है। उन स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती।

कुछ स्त्रियां ऐसी होती हैं, जिनकी योनि में रज की केवल शुक्ल गति उत्पन्न होती है, जिसके कारण ऐसी स्त्रियां रजस्वला नहीं होतीं और न उनके रज में बच्चा उत्पन्न करने की शक्ति होती है।

तीसरे प्रकार की स्त्रियों की योनियों में केवल विनष्ट गति का रज होता है। ऐसी स्त्रियां रजस्वला तो होती हैं, किन्तु उनके रज में केवल विनाश-शक्ति होती है, जिससे उनका रज शुक्र को ग्रहण करने में असमर्थ होता है। उनके गर्भ में भी बच्चों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसा रज अधिक तमोगुण के कारण कई एक स्त्रियों की योनियों में अधिक स्रवित होता है, जिसका समय भी नियत नहीं होता।

ये सब प्रकार की स्त्रियां काली रूपा होती हैं। उन सब के रज में विनाश-क्रिया होती ह और उनसे सन्तान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ये काली स्त्रियों के भेद होते हैं। इसी तरह स्थूल शरीर में स्त्रियों के अनेक भेद होते हैं।

सरस्वती स्त्रियों के रज की रचना-शक्ति में भी यदि कोई लोक-क्रिया का अभाव हो अर्थात् उनकी योनियों में रज की शुक्ल और काली दोनों गतियों में चौदह-चौदह प्रकार की यथार्थ

रचना शक्तियां न बनती हों तो उनके रज में शुक्र को ग्रहण करने की शक्ति तो अवश्य होती है, किन्तु गर्भ में प्राणियों का पूर्ण स्थूल शरीर नहीं बन सकता, जिससे गर्भ में कई प्रकार के अधूरे शरीरों की उत्पत्ति होती है।

सरस्वती स्त्रियों की योनियों में प्रवेश करने वाला शुक्र यदि किसी प्रकार दो, तीन या अधिक विंदु-भेदों से प्रविष्ट करे तो उन बिन्दुओं की पृथक्-पृथक् चैतन्य सत्ता और रज की पूर्ण रचना-शक्तियों से गर्भ में दो, तीन या अधिक बच्चों के शरीर की रचना होती है।

इसी भांति एक ही प्रकृति के विकार-भेदों से सृष्टि की उत्पत्ति में भिन्नता होती है। महा चैतन्य के सत्त्व गुण-प्रभाव के कारण सब तत्त्वों के योग से उत्पन्न होने वाले जिन प्राणियों के शरीर में शुक्र की उत्पत्ति होती है, वे स्थूल शरीर में पुरुष होने हैं और महा प्रकृति के पोषित तमोगुण-प्रभाव के कारण सब तत्त्वों के योग से उत्पन्न होने वाले जिन प्राणियों के शरीर में रज की उत्पत्ति होती है, वे स्थूल शरीर में स्त्रियां होती हैं।

इसी प्रकार समस्त प्राणियों के शरीर में पुरुष और स्त्री भेद होते हैं और इसी प्रकार समस्त सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

अगले अध्यायों में विश्व को उत्पन्न करने वाले पृथक्-पृथक तत्त्वों के गुण और कार्यों का विस्तृत वर्णन किया जायगा।

अध्याय ३

●

परमतत्त्व महा चैतन्य पुरुष

सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, नक्षत्र, ग्रह, अनन्त पिण्ड व ब्रह्माण्ड, आकाश, वायु. अग्नि, जल, दिन, रात्रि, तिथि, पक्ष, मास, वर्ष, शताब्दि, युग. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि, अहङ्कार, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, कर्ता, करण, क्रिया, मनुष्यादि समस्त प्राणी और अनन्त विराट् एवं सब चराचर से प्रथम क्या था ?

इन सब से प्रथम सर्वव्यापक, प्रकाशमय, महाकार सगुण और निर्गुण, गुणज्ञ ब्रह्म था। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है, नित्य है, चैतन्य स्वरूप है। वह न तो नेत्रों की सामर्थ्य से देखने योग्य है, न वाणी की शक्ति से वर्णन करने योग्य और न उसके उदाहरण में कोई वस्तु दिखाने योग्य है।

केवल इतना कहा जा सकता है कि वायु, जो उस सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल से स्थूल है, वह भी जब दृष्टि-गोचर नहीं हो सकता, न उसका रङ्ग-रूप ही वर्णन किया जा सकता है, न कर्मेन्द्रियों से ग्रहण हो सकता है, केवल ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसका कुछ बोध होता है, तब वह सूक्ष्म तो स्वतः ही सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, वायु का भी प्राण वायु, वायु का सञ्चालक,

वायु का चैतन्य रूप, अगोचर और अकथनीय है। वह अति सूक्ष्म होने पर भी सर्वज्ञ है और असीम व्यापक होने से अनन्त है।

अतः कुछ महाधुरन्धर ज्ञानियों ने ज्ञानेन्द्रियों में प्रधान बुद्धि द्वारा उस अनन्त और अति सूक्ष्म का किसी अंश में इस प्रकार अनुभव किया जैसे कोई तैराक अगाध समुद्र के किसी अंश में तैरकर विचार द्वारा उसका अनुभव करता है।

वह सूक्ष्म कैसा है? सत्य है, चैतन्य है, प्रकाशमय है, शुद्ध स्वरूप है, नित्य है, अखण्ड है, अनादि है, सर्वव्यापक और अनन्त है। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसा अविनाशी है। कालातीत है, प्रकृति का आधार है। इसलिए प्रकृति से भी श्रेष्ठ, परे और विश्व को पैदा करने वाले बीज की चेतन सत्ता की तरह है।

जैसे हरे, पीले, लाल, रङ्ग-बिरङ्गे गोलाकार लाखों पत्ते, लम्बे आकार की हजारों टहनियां, नाना रङ्ग और आकार के लाखों पुष्प और फल, भिन्न-भिन्न सूरत की अगणित जड़ें, सारा बट वृक्ष जिसको हम देख रहे हैं, एक सूक्ष्म बीज के अन्तर्गत है, जिसके अन्तर्गत देखने से वृक्ष कुछ भी नहीं दिखाई देता अर्थात् वह निराकार रूप में बींज की चैतन्य सत्ता से पोषित और सुरक्षित है। जिस से सारा वट वृक्ष असंख्य जड़ों, सहस्रों टहनियों, लाखों पत्तों, नाना पुष्पों और फलों

सहित हरा-भरा बना है, वैसे ही उस सूक्ष्म बीज की चैतन्य सत्ता से पोषित और रक्षित निराकार प्रकृति से यह सारा व्यापक विराट् ब्रह्माण्ड ऊर्ध्व बटवृक्ष की भांति पैदा होता है, जिसकी जड़ माया, जड़ की सिंचाई सत्त्वगुण, अंकुर उत्पत्ति, पत्ते कामनायें, पुष्प इच्छायें, भुः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् आदि लोक, तना आकाश, फल सूर्य-चन्द्रादि और टहनियाँ आकर्षण शक्तियाँ हैं जो इस वृक्ष की जड़, तना, टहनियाँ, पत्ते, पुष्प और फलों को अपनी-अपनी नियत जगहों पर रखने वाली हैं। उस सूक्ष्म चैतन्य से यह सारा विराट-विश्व उत्पन्न और पोषित हो रहा है।

वह वायु में प्राण वायु, अग्नि-सूर्य्य में तेज-प्रकाश, जल-चन्द्रमा में रस, पृथ्वी में उर्वरा, पिण्डों में आकर्षण, नक्षत्र-बिजली में चमक, लोकों में रचनात्मक, जीवधारियों में आत्मा, पुरुषों में शुक्र और पुरुषार्थ, वलवानों में बल, ज्ञानियों में ज्ञान, तपस्वियों में तप, इन्द्रियों में मन, देवताओं में महादेव, स्वर्ग में आनन्द, संसार में जीवन, ओषधियों में सोमरस, पुष्पों में सुगन्ध, फलों में मधुरता, वृक्ष में बीज, बीज में उत्पादक, उत्पत्ति में कामदेव, प्रकृति में चैतन्यता और विश्वविराट् में परमात्मा है।

इस ध्येय पर उस सूक्ष्म और सर्वव्यापक ब्रह्म को ही महा चैतन्य मानते हैं, जो विश्व-ब्रह्माण्ड को चैतन्य करने वाले आत्मा से भी श्रेष्ठ परमात्मा है। अनन्त ब्रह्माण्डों के समस्त

सूर्यों तथा भूलोक सहित समस्त लोक, चन्द्रमा सहित अनन्त ग्रह, आकाश सहित पाँचों तत्त्व, उनके भेद सहित पच्चीस उपतत्त्व, सतोगुण सहित तीनों गुण; मीठा रस सहित षड्-रस; मनुष्यगण, देवगण, देवों से भी श्रेष्ठ महादेवगण; पृथ्वी आदि सकल पिण्डों के निवासी, थलचर, जलचर, नभचर, स्थावर, जङ्गम आदि समस्त वर्णन करने योग्य और वर्णन से भी परे अवर्णनीय उस महा चैतन्य की सत्ता में चेतन और दृश्यमान् हो रहे हैं।

सब मिलकर एक विराट् विश्व बनता है। विराट् विश्व के वे सब अलग-अलग अंग हैं। उन सबका आपस में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त एक-दूसरे की सहायता के बिना अपने-अपने कार्य्यों से च्युत हो जाते हैं अथवा अपने श्रेय-साधन से गिर जाते हैं, जिसको विनाश व मरण कहते हैं। इसलिए परमाणु से लेकर विराट् विश्व तक सब जीवन-मरण के चक्र में घूमते हैं। केवल एक सूक्ष्म चैतन्य ब्रह्म ही शक्ति सहित शेष चैतन्य रह जाता है। ब्रह्म चैतन्य के अतिरिक्त विश्वमय सारे प्राकृत-दृश्य का नाश होता है, किन्तु वास्तव में नाश किसी का नहीं होता।

चैतन्य की सत्ता से सृजन-प्रकृति विकसित होकर बृहत् रूप से विश्व विराट् का निर्माण करती है और बृहत् प्रकृति विनष्ट तमोगुण से विश्व का नाश करते हुए सूक्ष्म शक्तिमात्र रहकर चैतन्य में लुप्त हो जाती है, जिससे फिर शक्ति सहित

शक्तिमान् चैतन्य ही शेष रह जाता है। तो नाश क्या हुआ ? इस प्रकार महा चैतन्य में प्राकृतिक विश्व का बराबर कर्म बना रहता है।

आकाशादि पञ्च महाभूत और उन से भी परे क्रमशः महा कर्म, महा अवधि, महा काल, महा रचयित्री, महा रजोगुण, महा सत्त्वगुण, महा जागृति,—इन सब से परे जो है, उसको शक्ति कहते हैं और उस से भी जो परे है, उस को चैतन्य कहते हैं। महा जागृति से लेकर आकाशादि पञ्च महाभूतों सहित समस्त जगत् को उत्पन्न, चेतन और प्रकाशित करने वाले उस चैतन्य को महा चैतन्य या ब्रह्म-चैतन्य कहते हैं। उससे परे कहने को न कोई शब्द है और न कोई सीमा है। वह चैतन्य, सत्य, अनन्त और अखण्ड है। वह अपनी सत्ता से असत् प्रकृति द्वारा विश्व का निर्माण करता है जिससे विश्व के दृश्य में असत प्रकृति भी सत्य प्रतीत होती है। ऐसा वह परम तत्त्व शक्तिमान्, सत्य-स्वरूप, महा-चैतन्य, परिवर्तन-रहित एवं पूर्ण है

अध्याय ४

महा प्रकृति का समस्त स्वरूप

महा प्रकृति प्रथम महा चैतन्य में शक्ति रूप से रहती है। वह चैतन्य की सत्ता से पोषित होकर अपने गुण में अंकुरित अथवा जाग्रत् होती है। जागृति में पोषित तमोगुण उत्पन्न होता है, उससे गति पैदा होती है गति से क्रिया बनती है, क्रिया में परिवर्तन आता है, परिवर्तन से अवस्था बनती है, अवस्था से कर्म बनता है, कर्म से कार्य का आकार अथवा आकाश बनता है। आकार में स्पर्शता आती है, स्पर्शता से ताप बनता है, ताप से भाप बनती है, भाप से अणु बनता है, अणु के समूह से पृथ्वी आदि पिण्ड बनते हैं। इस प्रकार महा प्रकृति अपने सृजन स्वरूप में विश्व की उत्पत्ति करती है।

अणु से सूक्ष्म भाप, भाप से सूक्ष्म ताप, ताप से सूक्ष्म वायु, वायु से सूक्ष्म आकाश, आकाश से सूक्ष्म कर्म, कर्म से सूक्ष्म अवस्था, अवस्था से सूक्ष्म परिवर्तन, परिवर्तन से सूक्ष्म क्रिया, क्रिया से सूक्ष्म गति, गति से सूक्ष्म पोषित-तमोगुण, पोषित-तमोगुण से सूक्ष्म जागृति, जागृति से सूक्ष्म शक्ति और शक्ति से सूक्ष्म चैतन्य है। जो तत्त्व जितना सूक्ष्म है, वह उतना ही महान्, विस्तृत और शक्तिमान् होता है।

महा प्रकृति चौदह प्रकार की कलाओं से विश्व-निर्माण में अपना समस्त स्वरूप उत्पन्न करती है। उन्हीं चौदह कलाओं को चौदह लोक कहते हैं। महा चैतन्य में प्रकृति प्रथम कला से मूल में शक्ति स्वरूपा रहती है। दूसरी कला से शक्ति अंकुरित होकर जागृति रूपा बनती है, उसमें ज्ञान आता है। ज्ञान में शक्ति विद्यमान रहती है। तीसरी कला से जागृति में पोषित तमोगुण उत्पन्न होकर गुण-रूपा बनती है, उसमें शक्ति और जागृति विद्यमान रहते हैं। चौथी कला से पोषित तमोगुण में गति उत्पन्न होकर गति रूपा बनती है, गति में शक्ति, जागृति, गुण विद्यमान रहते हैं। पांचवीं कला से गति में कृतित्व-शक्ति पैदा होकर कर्त्रीरूपा बनती है। उस में शक्ति, जागृति, गुण, गति, विद्यमान रहते हैं। छठी कला से क्रिया में परिवर्तन आकर काल-रूपा बनती है, उस में शक्ति, जागृति, गुण, गति, क्रिया, विद्यमान रहते हैं। सातवीं कला में परिवर्तन से अवस्था बनकर अवधि रूपा बनती है, उस में शक्ति, जागृति, गुण, गति, क्रिया, परिवर्तन, विद्यमान रहते हैं। आठवीं कला से अवस्था में कर्म बन कर कर्म-रूपा बनती है, उस में शक्ति, जागृति, गुण, गति, क्रिया, काल, अवस्था, शासन, विद्यमान रहते हैं। नवीं कला से कर्म में कार्य का आकार बनने पर आकाश रूपा बनती है, उसमें शक्ति, जागृति, गुण, गति, क्रिया, काल, अवस्था, कर्म, शब्द, विद्यमान रहते हैं। दसवीं कला से

आकाश में स्पर्शता आने से वायु रूपा बनती है, उसमें शक्ति, जागृति, गुण, गति, क्रिया, काल, अवस्था, कर्म, शब्द, स्पर्श, विद्यमान रहते हैं। ग्यारहवीं कला से स्पर्श में ताप उत्पन्न होकर अग्नि रूपा बनती है, उसमें शक्ति, जागृति, गुण, गति, क्रिया, काल, अवस्था, कर्म, शब्द, स्पर्श रूप विद्यमान रहते हैं। बारहवीं कला से ताप में भाप उत्पन्न होकर जल-रूपा बनती है, उस में शक्ति, जागृति, गुण, गति, क्रिया, काल, अवस्था, कर्म, शब्द, स्पर्श, रूप, रस विद्यमान रहते हैं। तेरहवीं कला से भाप में अणु अथवा मृत्तिका बनकर पृथ्वी रूपा बनती है, उसमें शक्ति, जागृति, गुण, गति, क्रिया, काल, अवस्था, कर्म, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विद्यमान रहते हैं।

पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न होने पर विश्वरूपा महा प्रकृति अपने सर्वाङ्ग स्वरूप में उत्पन्न हो जाती है और विश्व की अवस्था तक विकास की ओर बढ़ती रहती है, किन्तु विश्वमय विकास प्रकृति के स्वभाव से विनाश की ओर परिवर्तित होता रहता है।

विश्व की उत्पत्ति में प्रकृति की प्रथम कला का स्वरूप सब कलाओं से उज्ज्वल अथवा देदीप्यमान होता है। दूसरी कला उससे कुछ न्यून देदीप्यमान होती है। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं, दशवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं कलायें उत्तरोत्तर कम देदीप्यमान होती जाती हैं और चौदहवीं कला में उज्ज्वलता का बिलकुल अभाव हो

जाता है, इसलिए उसमें उग्र तमोगुणरूपी नाश गुण आ जाता है।

प्रकृति का विनाश स्वरूप—चौदहवीं कला में प्रकृति पूर्ण अन्धकार-रूपा होने से नाश-स्वरूपा बन जाती है। उस रूप में महा प्रकृति अपने नाशित-तमोगुण से प्रत्येक कला के प्रकाश को ढकते हुए प्रथम पृथ्वी तत्त्व को विच्छिन्न कर अणु में बदल देती है। अणु को भाप में, इसी भांति भाप को ताप में, ताप को स्पर्श में, स्पर्श को आकार में, आकार को कर्म में, कर्म को अवस्था में, अवस्था को परिवर्तन में, परिवर्तन को क्रिया में, क्रिया को गति में, गति को गुण में, गुण को जागृति में और जागृति को विच्छिन्न कर शक्ति में बदलती है।

शक्ति चैतन्य में आधेय होकर चैतन्य की सत्ता से रक्षित हो जाती है। वहाँ नाशित-तमोगुण नहीं पहुँच सकता अथवा नहीं रहता। जैसे अग्नि सब पदार्थों को भस्म करने पर भी वायु को भस्म नहीं कर सकता, वैसे ही शक्ति को नाशित-तमोगुण भी नाश नहीं कर सकता। शक्ति तमोगुण से भी सूक्ष्म है। तमोगुण प्रकृति के जागृत स्वरूप में आता है, इसलिए विनाश कार्य भी जाग्रत तक हो सकता है।

इस प्रकार महा प्रकृति प्रकाश-पक्ष में विश्व का निर्माण करती है अर्थात् जब तक वह चैतन्य की प्रकाश-सत्ता से पोषित होती रहती है, तब तक विश्व का निर्माण करती है और अन्धकार पक्ष में विश्व का विनाश करती है।

प्रकृति प्रकाशित गति में चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर ज्ञानमय कार्य करती है अथवा विधिपूर्वक विश्व का निर्माण और सञ्चालन करती है और अन्धकार-गति में अपने महान्धकार से तामसी बनकर अज्ञानमय कार्य करती है अथवा विश्व का विध्वंस करती है। प्रकृति गतिमय और परिवर्तनशील है, इसलिए ज्ञान और अज्ञान की क्रिया करने की उसमें स्वाभाविकता होती है। विश्व के निर्माण और विनाश में प्रकृति की तीन अवस्थायें—ज्ञान, सृजन. विनाश अथवा सरस्वती, लक्ष्मी और काली होती हैं।

अध्याय ५

●

महासत्त्वगुण

अनन्त चैतन्य की जिस सत्ता से शक्ति-रूपा महाप्रकृति चेतन और पोषित होती है, उसको महासत्त्वगुण कहते हैं। सत्त्वगुण में चेतना, प्रकाश और ज्ञान होता है, इसलिए सत्त्व-गुण की सामर्थ्य से विश्व-निर्माण के आरम्भ में अज्ञान प्रकृति ज्ञानमय होकर प्रकाशित होती है।

महासत्त्वगुण अपने चेतन, ज्ञान और प्रकाश से विश्व का सृजन करने वाली तामसी प्रकृति को चेतन, ज्ञानी और प्रकाशित करता है। इसलिए विश्व की उत्पत्ति के आरम्भ में प्रकृति चेतन और ज्ञानी बनकर सत्त्वगुण के समान दिव्यरूपा होती है, जैसे अग्नि के अन्दर लोहा आदि धातु अग्नि के सदृश्य होते हैं। प्रकृति के उस दिव्य स्वरूप को लक्ष्मी कहते हैं। वह सत्त्वगुण के आश्रित होती है। सत्त्वगुण से उस दिव्य-रूपा प्रकृति को विश्व के निर्माण करने का ज्ञान प्राप्त होता है।

जिस तरह प्राणियों को माता के गर्भ में शुक्र के सत्त्वगुण से चेतना, ज्ञान और रक्षा प्राप्त होती है और वे पैदा होकर प्रथम बाल अवस्था में प्रविष्ट होते हैं, फिर उनकी तरुण और वृद्धावस्था

होती है; इसी प्रकार महाचैतन्य परमात्मा के सत्त्वगुण से विश्व-रूपा महाप्रकृति चेतन, ज्ञानी और रक्षित होकर विश्व के निर्माण में प्रथम बालिका अथवा सरस्वती रूपा होती है, फिर तरुणी, वृद्धा अथवा लक्ष्मी और काली अवस्थाओं में प्रविष्ट होती है।

शुक्र में आत्मिक-सत्ता और रज में प्राकृतिक शक्ति होती है। माता के गर्भ में शुक्र की वही आत्मिक-सत्ता रज की शक्ति को सत्त्वगुणी बनाती है, जिससे गर्भ के पिण्ड को चेतना और ज्ञान प्राप्त होकर वह उत्पन्न होने के लिए रक्षित हो जाता है। ऐसे ही विश्व की रचयित्री महाजागृति, महाचैतन्य अथवा परमात्मा के सत्त्वगुण से चेतन होकर रक्षित और पोषित होती है।

महाजागृति और शरीर-जागृति अपने-अपने तमोगुण से महाप्रलय और शरीर-मरण में परमात्मा और आत्मा के चैतन्य में लुप्त होती है। विश्व विराट् की महाजागृति परमात्मा में लुप्त होने पर महाप्रलय और शरीर-जागृति आत्म-चैतन्य में लुप्त होने पर शरीर का मरण होता है। परमात्मा और आत्मा के सत्वगुण से महाजागृति और लुप्तावस्था से शरीर-जागृति जागृत होकर विश्व और शरीर का बारम्बार निर्माण करती है।

सत्वगुण के सामर्थ्य से ही प्रकृति को सत्वगुण में ज्ञान, रजोगुण में समाधान, क्रिया में कला, काल में वर्तमान काल,

अवधि में बाल अवस्था, कर्म में सुख, आकाश में धारणशक्ति, वायु में स्पर्श, अग्नि (सूर्य, चन्द्रमा, तारों) में प्रकाश, जल में रस और पृथ्वी में सुगन्ध प्राप्त होती है।

सत्वगुण ही से आत्मा में सद्बुद्धि, बुद्धि में ज्ञान, मन में प्रसन्नता, इच्छा में मंगल, कानों में सुनने, त्वचा में स्पर्शज्ञान, आँखों में देखने, रसना में रसज्ञान और घ्राण में गन्धज्ञान की शक्ति होती है। सत्वगुण से ही चन्द्रमा, वनस्पति और दूध में सोमरस अथवा शरीर पोषक रस, पुष्पों में सुगन्ध और सौन्दर्य होता है। हम कह चुके हैं कि जिस प्रकार प्राणियों का शरीर शुक्र के सत्त्वगुण से गर्भ में चेतन और जागृत होकर उसमें ज्ञानेन्द्रियों का विकास होता है, वैसे ही विश्व-उत्पत्ति के लिए महाप्रकृति महासत्त्वगुण से चेतन और जागृत होकर उसमें आनन्द, प्रसन्नता और सौंदर्य का अभ्युदय होता है। सत्वगुण को विष्णु भी कहते हैं।

अध्याय ६

●

महारजोगुण

महाचैतन्य के सत्वगुण में महाप्रकृति के पोषित तमोगुण के बढ़ने पर विश्व-उत्पादक-सत्ता उत्पन्न होती है। उसको महारजोगुण कहते हैं।

चैतन्य—सत्य, प्रकाशमय, शुद्धस्वरूप, अखण्ड, अनादि, सर्वव्यापक, अनन्त, अविनाशी, कालातीत और प्रकृति का आधार है।

महाप्रकृति तमोगुणी होने से असत्य, अन्धकारमय, अनित्य, जड़ और विनाशी है।

चैतन्य और प्रकृति इन दोनों के योग से अथवा सत्य-असत्य के संयोग से, प्रकाश-अन्धकार के मेल से, नित्य-अनित्य के संयोग से अथवा चैतन्य और जड़ के योग से जो तीसरा मिश्रित स्वरूप उत्पन्न होता है; उसको महारजोगुण या रजोगुण कहते हैं। उसी से प्रकृति में क्रिया उत्पन्न होकर विश्व की रचना होती है। महारजोगुण विश्व को पैदा करने वाला बीज है।

जैसे बीज की सत्ता से वृक्ष पैदा होता है और पैदा

होने पर बीज की सत्ता वृक्ष के सर्वाङ्ग में विद्यमान रहती है या बीज में वृक्ष की सर्वाङ्ग सत्ता विद्यमान रहती है जिसको वह वृक्ष के रूप में विकसित करती है, ठीक वैसे ही महा-रजोगुण की सत्ता से विश्व उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने पर विश्व के सर्वाङ्ग में महारजोगुण की सत्ता विद्यमान रहती है। विश्व के अन्तर्गत काल, कर्म, आकाश, वायु, अग्नि, जल, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, नक्षत्र, ग्रह, अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्ड, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, स्थावर, जंगम, मनुष्यगण, देवगण, दानवगण आदि समस्त चराचर की उत्पत्ति उसी बीजरूप महारजोगुण से होती है, जो सत्य-असत्य के योग से मिश्रित होता है।

इसलिए उससे उत्पन्न होने वाला विश्व परमाणु से लेकर विराट्-विश्व पर्यन्त सत्य-असत्य के योग से उत्पन्न होने पर न सत्य है और न असत्य; क्योंकि सत्य अविनाशी चैतन्य है और असत्य नश्वर प्रकृति है। शेष सारा विश्व जो सत्य-असत्य के योग से पैदा होता है, वह न सत्य है और न असत्य। रजोगुणयुक्त होने से क्रियात्मक है अथवा उत्पन्न होकर नष्ट और नष्ट होकर उत्पन्न होने वाला है।

रजोगुण जो विश्व विराट् और प्राणियों को उत्पन्न करने का हेतु है, वह चैतन्य और प्रकृति के योग से उत्पन्न होता है, इसलिए चैतन्य की सत्ता से वह विश्व और प्राणियों की उत्पत्ति के लिए समर्थ होता है और उसमें सम्मिलित प्रकृति का तमोगुण

विश्व और प्राणियों को उत्पत्ति से विनाश की ओर प्रवृत्त करता रहता है। रजोगुण में विश्व और प्राणियों का यह कर्म बराबर बना रहता है।

विश्व की बनावट में महाप्रकृति की चौदह प्रकार की कलाओं के साथ चौदह प्रकार के रजोगुण होते हैं। प्रत्येक रजोगुण प्रकृति की प्रत्येक कला को सृजनस्वरूपा बनाता हुआ उसका सञ्चालन करता है। इस प्रकार प्रत्येक रजोगुण का स्वरूप, गुण और कार्य प्रकृति की प्रत्येक कला के स्वरूप, गुण और कार्य की तरह होता है। उन विभिन्न रजोगुणों में ही प्रकृति भिन्न-भिन्न कलाओं से युक्त होकर भिन्न-भिन्न तत्वों द्वारा विभिन्न क्रिया करने में समर्थ होती है। इस प्रकार १३ प्रकार के रजोगुणों में प्रकृति १३ प्रकार के तत्वों द्वारा सृजन-कलाओं से युक्त होकर विश्व का निर्माण करती है, किन्तु चौदहवीं प्रकार के रजोगुण में, प्रकृति के निर्माण-संकल्प में विकल्प उत्पन्न होने पर, वह नाशिनी बनकर विश्व का नाश करती है, जैसे प्राणियों की वृद्धावस्था के अन्त में उनकी जीवन-प्रकृति के संकल्प में विकल्प उत्पन्न होने पर प्राणियों की मृत्यु होती है।

यद्यपि रजोगुण में सृजन, गुण और निर्माण-शक्ति होती है तथापि प्रकृति के पोषित-तमोगुण के परिवर्तन से रजोगुण परिवर्तनशील होता है और उसके तीन मुख्य भेद होते हैं, जिनको संकल्प, समाधान और विकल्प कहते हैं।

रजोगुण के शुभ संकल्प-भेद से प्रकृति सृजन-स्वरूपा बन कर विश्व का विकास करती है, रजोगुण के समाधान भेद से विधिपूर्वक विश्व का सृजन करती हुई स्थितिस्वरूपा बनती है और रजोगुण के विकल्प भेद से नाशित तमोगुण में परिवर्तित होकर विश्व का नाश करती है। इस प्रकार विश्व विराट् का विकास करने वाले १४ लोकों के १४ प्रकार के रजोगुणों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं अर्थात् संकल्प, समाधान और विकल्प।

महारजोगुण के शिव-संकल्प से सब रजोगुणों में विश्व उत्पत्ति के शुभ-संकल्प उत्पन्न होते हैं और वे सब अपनी सृजन-प्रकृतियों द्वारा कालान्तर में समस्त विश्व की स्थिति कर रचना करते हैं।

शुभ-संकल्प उत्पत्ति का स्वरूप होता है, समाधान स्थिति का वैधानिक स्वरूप होता है अर्थात् विश्व की स्थिति का विधि-पूर्वक सृजन और सञ्चालन करने वाले वैधानिक स्वरूप को समाधान कहते हैं। विधान के उस अधिष्ठाता को विधाता भी कहते हैं। विकल्प उत्पत्ति-नाश का स्वरूप होता है। इन तीनों के स्वरूप भी तीन प्रकार के होते हैं। शुभ-संकल्प भेद का स्वरूप सत्वगुण के सदृश्य उज्ज्वल-प्रकाशमय होता है, समाधान भेद का स्वरूप गौर प्रकाशमय होता है और विकल्प भेद का स्वरूप लाल-प्रकाशमय होता है। इस प्रकार विश्व का उत्पादक महारजोगुण पोषित तमोगुण के आवरण

से अपने समस्त अंगों सहित विश्व के साथ इन तीन भेदों में बराबर परिवर्तित होता रहता है, जिससे समस्त विश्व अपनी अवधि में आदि, मध्य, अन्त और प्राणी अपनी अवस्था में बाल, तरुण, वृद्ध—तीन-तीन मुख्य भेदों में परिवर्तित होते हैं।

रजोगुण के प्रथम भेद में प्रकाश से अन्धकार न्यून होता है, इसलिए उसका स्वरूप उज्ज्वल-प्रकाशमय होता है। रजोगुण के मध्यम भेद में प्रकाश और अन्धकार बराबर होते हैं, इसलिए उसका स्वरूप गौर-प्रकाशमय होता है। रजोगुण के अन्तिम भेद में प्रकाश से अन्धकार अधिक बढ़ जाता है, इसलिए उसका स्वरूप लाल-प्रकाशमय होता है।

विश्व की उत्पत्ति में महारजोगुण से उत्पन्न होने वाले जो मुख्यतः १४ प्रकार के रजोगुण होते हैं, वे प्रकृति की प्रत्येक कला के अधिष्ठाता देव होते हैं। उन्हीं की सत्ता के प्रकृति १४ प्रकार की कलाओं से युक्त होकर १४ प्रकार के लोक अथवा आकारों में विभक्त १४ प्रकार के तत्वों का निर्माण कर विश्व को उत्पन्न से नाश की ओर प्रवृत्त करती रहती है। इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति में महारजोगुण के सूक्ष्म और स्थूल अनन्त स्वरूप होते हैं, जो सब उत्पत्ति में सहायक होते हैं। उन्हीं से विश्व में विभिन्न सृष्टियाँ और भिन्न-भिन्न जीव पैदा होते हैं और वे सब बाल, तरुण, वृद्धावस्था में परिवर्तित होते हुए उत्पत्ति से विनाश की ओर प्रवृत्त होते हैं।

विश्व के अन्तर्गत सब जीव-जन्तु एवं ब्रह्माण्डों का जीवन-काल और विनाश-काल एक-सा नहीं होता। अपने-अपने रजोगुण के अनुसार प्रत्येक की अवधि अलग-अलग होती है। जितने छोटे जीव-जन्तु एवं ब्रह्माण्ड होते हैं, उन की जीवन-गति अपने रजोगुण की सत्ता के अनुसार उतने ही न्यून काल में शान्त होकर अपने आधार आत्म चैतन्य में लुप्त हो जाती है। इसी को मरण या विनाश कहते हैं। फिर उस रजोगुण के कारण आत्म चैतन्य की सत्ता से उतने ही न्यून काल में वे जागृत होकर पुनर्जन्म लेते हैं। जिस प्रकार प्राणियों के जन्म लेने पर मृत्यु का होना अटल है, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् रजोगुण की सत्ता से उनका पुनर्जन्म होना अटल है। विश्व में सब से बड़ा जीवनकाल और विनाशकाल उस महारजोगुण का है, जिसके जीवनकाल में सब अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और जिसके विनाशकाल में सब अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्डों का नाश होता है। इस प्रकार रजोगुण की सत्ता से विश्व पैदा होकर विनाश की ओर और विनाश से उत्पत्ति की ओर प्रवृत्त होता रहता है।

रजोगुण में सृजन गुण और निर्माण शक्ति होती है। विश्व की उत्पत्ति के साथ उसके तीन भेद,—शुभ संकल्प, समाधान और विकल्प होते हैं। रजोगुण में उत्पादन सत्ता और क्रिया शक्ति होती है। वह अपनी क्रियाशक्ति से विश्व-कौशल का निर्माण करता है।

रजोगुण अवस्थाओं में तरुणावस्था, कर्मों में शासन, आकाश में शब्द, वायु में बल, अग्नि में तेज, जल में द्रव, पृथ्वी में उर्वरा, प्राणियों में मन, वनस्पतियों में बीज, समस्त विश्व में समाधान और महाप्रकृति में निर्माण स्वरूप है।

रजोगुण में चेतनता, ज्ञान और निर्माण क्रिया होती है। रजोगुण का दूसरा नाम ब्रह्मा है। रजोगुण से कलाओं अथवा ज्योतियों में सृजन-शक्तियाँ बनी रहती हैं अथवा जिस प्रकाश में सृजन-शक्तियाँ होती हैं, उसी को ब्रह्मा रजोगुण कहते हैं। उसी में रहने वाली ज्योतियाँ विश्व और प्राणियों की जीवन-शक्तियाँ होती हैं।



अध्याय ७

●

प्रकृति का रचना स्वरूप

महारजोगुण में कुछ अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने पर प्रकृति में विश्व को बनाने वाली क्रिया-शक्ति पैदा होती है, जिसके द्वारा महारजोगुण विश्व की रचना अथवा विश्व का निर्माण करता है। रजोगुण की सत्ता से ही प्रकृति में निर्माण-शक्ति पैदा होती है। प्रकृति के उस स्वरूप को रचयित्री, रचना-कर्त्री या क्रिया कह सकते हैं। उसमें रजोगुण के स्वरूप से कुछ अधिक पोषित-तमोगुण बढ़ जाता है, इसलिए प्रकृति के उस स्वरूप में कुछ अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने पर रजोगुण के शुक्ल-गौर प्रकाश में कुछ लालिमा आ जाती है, जिससे विश्व को उत्पन्न करने वाला अद्भुत सौन्दर्यमय प्रकाश उत्पन्न होता है।

प्रकृति के उसी अद्भुत अति सौन्दर्यमय प्रकाश से विश्व में दिव्य सृष्टियों की उत्पत्ति होती है। उस प्रकाश का उदाहरण सूर्य, चन्द्रमा, तारों, बिजली और अग्नि के प्रकाश से नहीं दिया जा सकता; क्योंकि सूर्यादि अग्नियों का प्रकाश प्रकृति के उस स्वरूप के पश्चात् कितने ही अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होता है। उसको प्रकृति की युवती-अवस्था का दिव्य लालिमा-युक्त सौदर्न्यमय-स्वरूप समझना चाहिए।

जैसे युवावस्था में स्त्रियों का सौन्दर्य उनकी सब अवस्थाओं से अधिक उज्ज्वल होता है और उन्हें उस अवस्था के सौन्दर्य में गर्भाधान-शक्ति प्राप्त होती है, वैसे ही रचयित्री-स्वरूपा प्रकृति के उस अद्भुत प्रकाश में विश्व-निर्माण-शक्ति उत्पन्न होती है।

महाप्रकृति अपनी रचयित्री अवस्था में ठीक इसी तरह विश्व के विभिन्न तत्त्वों, पिण्डों और जीवों की उत्पत्ति करती है, जैसे स्त्रियां अपनी तरुणावस्था में अनेक सूरत के बच्चों को पैदा करती हैं।

महाप्रकृति रचयित्री अवस्था के उपरान्त फिर विश्व की नवीनता को पैदा करने की शक्ति नहीं रखती, जैसे स्त्रियां तरुणावस्था के उपरान्त अधेड़ और वृद्धावस्था में बच्चे उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखतीं ।

महाप्रकृति की रचयित्री अथवा तरुणावस्था में ही विश्व के सब तत्त्वों की उत्पत्ति होती है । उसकी अधेड़ और वृद्धावस्था में तत्त्व पैदा नहीं हो सकते, बल्कि उन अवस्थाओं में विश्व की बनावट में तमोगुण बढ़ता रहता है, जो की अन्तिम अवस्था के पश्चात् विश्व का विनाशक होता है।

महाप्रकृति का जो तमोगुण पहले चैतन्य की सत्ता से पोषित होते हुए विश्व के निर्माण का हेतु होता है, वही विश्व की अवस्था के अन्त में विश्व की चैतन्य सत्ता को आच्छादित करते हुए उस के विनाश का हेतु बन जाता है। इसलिए

महाप्रकृति, जो पहले चैतन्य की सत्ता से ज्ञानमय होकर विश्व-निर्माण की क्रिया करती है, वही पीछे नाशित तमोगुण से अज्ञान बनकर विश्व-विनाश की क्रिया बन जाती है।

महारजोगुण में जो चैतन्य सत्ता होती है, उसी की पोषित शक्ति से पैदा होने वाली क्रिया विश्व का सृजन करती है। प्रकृति के उस स्वरूप में चेतना, ज्ञान, निर्माण-कला और क्रिया-शक्ति होती है। वह अपनी क्रिया से जैसे-जैसे विश्व की उत्पत्ति करती है, वैसे ही वैसे अपने गुण में बढ़ती रहती है और जब तक अपने नाशित तमोगुण में प्रविष्ट नहीं होती, तब तक विश्व को बनाकर अपने कर्म द्वारा नियमित रूप से उसका सञ्चालन करती रहती है।

विश्वरचयित्री अपनी युवा-अवस्था के प्रथम प्रकाश से विश्व में दिव्य और आनन्दमय सृष्टियों की उत्पत्ति करती है। फिर वह जैसे-जैसे अपनी अवस्था में बढ़ती है, वैसे ही वैसे तमोगुण बढ़ने से तामसी और दुःखमय सृष्टियों की उत्पत्ति करती है। महाप्रकृति की तरुणावस्था के पश्चात् सृष्टियां के दिव्य और आनन्दमय कार्य न्यून होते जाते हैं तथा तम और दुःखमय कार्य बढ़ते जाते हैं।

विश्व में जो कुछ निर्माण-कार्य हो रहे हैं या किये जा रहे हैं. सब प्रकृति की निर्माण-क्रियाओं से हो रहे हैं। प्रकृति की वे भी निर्माण-क्रियायें हैं, जिनके द्वारा काल परिवर्तन को,

कर्म शासन को और आकाश पिण्डों को धारण कर रहा है। उन्हीं से वायु स्पर्श, धावन, शोषण और अग्नि प्रकाश, तेज, दाह करता है। उन्हीं से जल में रस और पृथ्वी में स्थूलपन और गन्ध उत्पन्न होती है। उन्हीं से आकाश में पिण्ड नियमित रूप से सञ्चालित होते हैं; पृथ्वी पर मेघ वर्षते हैं, बीजों से वनस्पतियां उगती हैं और पुष्पों से सुगन्ध बिखरती है। इस तरह विश्व का समस्त कौशल उन्हीं से हो रहा है।

विश्व-निर्माण के साथ विश्व-रचयित्री अनन्त क्रिया रूप भेद उत्पन्न करती है, जिन से विश्व की उत्पत्ति और विश्व का सञ्चालन होता है।

रचयित्री में विकास-गुण और रचना-शक्ति होती है। इन दोनों के योग-भेद से रचयित्री में सत्, रज, तम त्रिगुण भेद पैदा होते हैं। तीनों में तीन सत्ता होती हैं। सत्वगुण में कला की सत्ता, रजोगुण में क्रिया की सत्ता और पोषित तमोगुण में विकास की सत्ता होती है। कला, क्रिया और विकास--इन तीनों सत्ताओं के योग से महारचयित्री के अन्तर्गत अर्थात् गर्भ में १४ प्रकार के लोक उत्पन्न होते हैं, जिनमें १४ प्रकार की सृजन-कलायें होती हैं।

प्रत्येक लोक में प्रत्येक कला से एक-एक तत्व का निर्माण होता है। इस प्रकार प्रत्येक कला की क्रिया पोषित तमोगुण को परिवर्तित करते हुए विश्वरचयित्री के गर्भ में विभिन्न १४ प्रकार के लोक उत्पन्न करती है और प्रत्येक लोक में पोषित

तमोगुण से पृथक्-पृथक् तत्व उत्पन्न करने की योग्यता होती है। सब तत्वों के योग से एक महाविश्व का आकार बनता है, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में विभिन्न पिण्ड बनते हैं और प्रत्येक पिण्ड में भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल असंख्य जीव-जन्तु पैदा होते हैं।

महाप्रकृति की रचयित्री अवस्था में इस प्रकार विधिपूर्वक विश्व-रचना होती है, जिस प्रकार तरुणी स्त्रियों के गर्भ में विधिपूर्वक बच्चों के शरीर की रचना होती है।

विश्वरचयित्री के गर्भ की तरह स्त्रियों के गर्भ में भी विकास-गुण और रचना-शक्ति होती है। गर्भ में उन दोनों के योग से प्रथम पोषित रज बनता है। उस के सत्, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं। उसके सत्वगुण में कला की सत्ता, रजोगुण में क्रिया की सत्ता और तमोगुण में विकास की सत्ता विद्यमान रहती है। कला, क्रिया और विकास—इन तीनों सत्ताओं के योग से तरुणी स्त्रियों के गर्भ में १४ प्रकार के लोक उत्पन्न होते हैं, जिनमें १४ प्रकार की सृजन-कलायें होती हैं। प्रत्येक कला में एक-एक शारीरिक तत्व-निर्माण की योग्यता होती है। इस प्रकार गर्भवती स्त्रियों के गर्भ में प्रत्येक लोक-कला की योग्यता से पोषित-रज परिवर्तित होकर प्रत्येक योनी-लोक में प्रत्येक शारीरिक तत्व बनता हुआ विधि-पूर्वक बच्चों के शरीर की रचना करता है। ठीक इसी प्रकार विश्वरचयित्री के अन्तर्गत विधिपूर्वक विश्व की रचना होती है।

विश्वरचयित्री को विद्यारूप प्रकृति या सरस्वती भी कहते हैं। विधिपूर्वक सञ्चालिका को विद्या और सृजन-स्वरूपा को सरस्वती कहते हैं। प्रकृति के उस स्वरूप में चेतना और ज्ञान के साथ कला, क्रिया और विकास की शक्ति होती है। प्रकृति के उस स्वरूप में अति अद्भुत कुछ लालिमा-युक्त दिव्य गौर-प्रकाश उत्पन्न होता है। वह महाप्रकृति की युवा-अवस्था का सौन्दर्यमय स्वरूप है।

अध्याय ८

●

महाकाल-परिवर्तन

महाप्रकृति के क्रिया स्वरूप में कुछ तमोगुण के बढ़ने पर उसमें परिवर्तन शक्ति आ जाती है जिससे प्रकृति अपनी क्रिया में परिवर्तित होते हुए विश्व का परिवर्तन करती रहती है। महाप्रकृति के उस परिवर्तन-स्वरूप को महाकाल, काल या समय कहते हैं। अथवा विश्व की क्रिया करने में जो महाप्रकृति को जागृति से विनाश तक और विनाश से जागृति तक बराबर परिवर्तित करता रहता है, उसको महाकाल, काल या समय कहते हैं। उसी से विश्व उत्पत्ति से नाश और नाश से उत्पत्ति में बराबर परिवर्तित होता रहता है। स्त्रियों के रज के सदृश्य महाकाल को महाप्रकृति का रज समझना चाहिये।

यद्यपि काल का स्वरूप काला हे, किन्तु विश्व की उत्पत्ति के प्रथम महाचैतन्य के प्रकाश से जागृति के साथ वह देदीप्य-मान उज्ज्वल होता है, जैसे दिन का समय सूर्य के प्रकाश से उज्ज्वल होता है या स्त्रियों के योनी-शुक्लपक्ष में रज उज्ज्वल होता है अथवा सत्त्वगुण से प्राणियों की बाल-अवस्था अन्य अवस्थाओं से उज्ज्वल होती है। उस काल को हम पोषित

अथवा मंगलमय काल कह सकते हैं, क्योंकि उसके परिवर्तन में समस्त विश्व और प्राणियों की उत्पत्ति का पोषण होता है।

महाप्रकृति के जागृत-स्वरूप में जो प्रथम पोषित-तमोगुण उत्पन्न होता है, जिस से विश्व की उत्पत्ति और विनाश में उज्ज्वल और कृष्ण दो महा भेद हो जाते हैं, उसी के समस्त स्वरूप को महाकाल समझना चाहिये।

विश्व की उत्पत्ति और विनाश के साथ उसके शुक्ल और कृष्ण एवं पोषित और नाशित दो-दो भेद होते हैं। पोषितकाल के परिवर्तन में विश्व और प्राणी उत्पन्न एवं पोषित होकर विकसित होते हैं। उसका स्वरूप उज्ज्वल बताया गया है। नाशितकाल के परिवर्तन में विश्व और प्राणियों का विनाश होकर नाशकारी तमोगुण का भी नाश हो जाता है। रात्रि के समय की भांति उसका स्वरूप काला होता है।

पोषितकाल विश्व का विकास करता हुआ उसको विनाश की ओर प्रवृत्त करता रहता है। विश्व की उत्पत्ति में महा-प्रकृति प्रथम पोषितकाल से ही जागृत होती है और उसी के परिवर्तन से जागृत-रूप प्रकृति सत्त्वगुणी बनकर ज्ञानमय होती है। फिर उसी के परिवर्तन से सत्त्वगुणी प्रकृति कालान्तर में रजोगुणी बनकर विश्व का निर्माण करनेवाली क्रिया बन जाती है और उसमें संकल्प, समाधान एवं विकल्प शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। फिर उसी काल के परिवर्तन से कालान्तर में

रजोगुणी प्रकृति वर्तमान, भूत, भविष्यत् कालों में परिवर्तित हो जाती है। फिर कालान्तर के परिवर्तन से समय-रूप प्रकृति में इन्द्र अथवा शासनशक्ति पैदा हो जाती है। फिर उसी काल के परिवर्तन से कालान्तर में प्रकृति की इन्द्रशक्ति से धारण अथवा आकाश-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। फिर उसी काल के परिवर्तन से कालान्तर में आकाशरूप प्रकृति से स्पर्श शक्ति अथवा वायु उत्पन्न हो जाता है। फिर उसी काल के परिवर्तन से कालान्तर में वायुरूप प्रकृति से तेज अथवा अग्निरूप प्रकृति उत्पन्न हो जाती है। फिर उसी काल के परिवर्तन से कालान्तर में अग्नि-रूप प्रकृति से रस अथवा जल-रूप प्रकृति उत्पन्न हो जाती है। फिर उसी काल के परिवर्तन से कालान्तर में जल से मृत्तिका अथवा पृथ्वीरूप प्रकृति उत्पन्न हो जाती है।

इसी प्रकार पोषितकाल के परिवर्तन से कालान्तर में अपने आप विश्व के समस्त तत्त्व, पिण्ड, अण्ड और ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है। उन सबके साथ महाकाल के अनन्त भेद उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे महाकाल समस्त विश्व के तत्त्वों और अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्डों को उत्पत्ति से विनाश की ओर प्रवृत्त करता रहता है।

विश्व में समस्त सृष्टियों और जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति एवं स्थिति होने के अन्त में महाकाल नाशित रूप धारण करता है। उसका स्वरूप अन्धकारमय है। उसके परिवर्तन से समस्त विश्व के अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्ड तथा तत्त्वों का नाश होने

लगता है और सबके नाश के अन्त में वह विश्व के स्थान को घोर अन्धकार-रूप से आच्छादित कर लेता है। उस घोर अन्धकार को भी नाशित काल का परिवर्तन क्रमशः कालान्तर में नष्ट करके नाश करने वाली क्रिया में परिवर्तित कर देता है और फिर काल का परिवर्तन उस नाशित क्रिया को भी क्रमशः कालान्तर में शक्ति में परिवर्तित कर देता है। शक्ति चैतन्य की सत्ता से कालान्तर में फिर जागृति में परिवर्तित होकर विश्व की उत्पत्ति करती है। इसी तरह उत्पत्ति और विनाश के समस्त परिवर्तन को महाकाल या काल कहते हैं।

विश्व की उत्पत्ति और विनाश में महाकाल के परिवर्तन के त्रिकाल भेद होते हैं। इन भेदों को वर्तमान, भूत, भविष्य कहते हैं। ये तीनों समस्त विश्व की उत्पत्ति और विनाश में परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। विश्वगति के साथ इनके घुमाव का घेरा गोल चक्र की तरह होता है, जैसे त्रिकोणाकार वस्तु के घुमाव का घेरा गोल चक्रदार होता है।

विश्व-उत्पत्ति के साथ जैसे उज्ज्वल-काल के वर्तमान, भूत, भविष्य भेद होते हैं और प्राणियों की बाल, तरुण, वृद्धावस्था होती है, वैसे ही विश्व-विनाशक काल के भी वर्तमान, भूत, भविष्य त्रिकाल भेद हैं और प्राणियों की मृत्यु होने पर सूक्ष्म शरीर के भी बाल, तरुण, वृद्ध तीन भेद होते हैं।

प्राणियों के बुढ़ापे का स्वरूप रक्त-काला होता है, जो मृत्यु की ओर ले जाता है और सूक्ष्म शरीर के बुढ़ापे का स्वरूप

उज्ज्वल होता है, जो उत्पत्ति की ओर ले जाता है। जीवित प्राणियों के बुढ़ापे में जैसे मृत्यु समीप आ जाती है, वैसे ही काल के परिवर्तन से कालान्त में सूक्ष्म शरीर के बुढ़ापे के समीप उत्पत्ति आजाती है।

इसी भांति विश्व-विनाश के बुढ़ापे में काल के परिवतन से कालान्तर में विश्व की उत्पत्ति समीप आ जाती है। समस्त विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश परिवर्तन-रूप महाकाल के त्रिकाल भेदों को जागृतकाल, रचनाकाल और विनाशकाल कहना चाहिए। इस प्रकार महाकाल का परिवर्तन बराबर बना रहता है। इन्हीं के रूपान्तर को काल-दर्शियों ने भविष्य, वर्तमान और भूत काल के नाम से कहा है। ये महान् से महान् और सूक्ष्म से सूक्ष्म होते हैं।

काल के परिवर्तन से ही सूर्य और पृथ्वी दैनिक और वार्षिक गति में घूम रहे हैं। उसी से चन्द्रमा शुक्ल और कृष्ण पक्ष की तिथियों में भ्रमण कर रहा है। इसी तरह समस्त विश्व का परिवर्तन महाकाल से हो रहा है।

पृथ्वीतल के मनुष्य सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा और तारों की गति से जो समय होना मानते हैं, वह काल ही के परिवर्तन से होता है। यदि सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा और तारों की गति का परिवर्तन महाकाल द्वारा न होता, तो पृथ्वीतल में मनुष्यों को समय का ज्ञान कदापि नहीं हो पाता। काल ही के परिवर्तन

से पृथ्वी में मनुष्यों को विपल, पल, घड़ी, पहर, दिन, रात्रि, तिथि, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, शताब्दि, युग-युगान्तरों का बोध होता है।

विश्व की उत्पत्ति और विनाश में महाकाल के उज्ज्वल और कृष्ण दो भेद होते हैं। दोनों अपनी-अपनी गति में वर्तमान, भूत, भविष्य त्रिकालमय परिवर्तनशील होते हैं और विश्व को उत्पत्ति की ओर से विनाश की ओर एवं विनाश की ओर से उत्पत्ति की ओर प्रवृत्त करते रहते हैं।

महाकाल स्त्रियों के रज के समान महाप्रकृति का महारज है। रज के सदृश्य काल के भी उज्ज्वल और कृष्ण दो भेद होते हैं। उस की उज्ज्वलता में विश्व की उत्पत्ति और अन्धकार में नाश होता है। काल ही उत्पत्ति और नाश का कारण है। स्त्रियों के रज को काल का स्थूल स्वरूप समझना चाहिये।

काल में परिवर्तन-गुण और चञ्चल-शक्ति होती है। काल के वर्तमान, भविष्य, भूत तीन भेद होते हैं। सृजन और संहार उसके उज्ज्वल और कृष्ण दो महा भेद हैं। भारतीय शास्त्रों में उसके उज्ज्वल भेद को धर्मराज और कृष्ण भेद को यमराज के नाम से कहा गया है।

यद्यपि काल का अपना स्वरूप काला है, किन्तु चैतन्य की सत्ता से उसका स्वरूप देदीप्यमान उज्ज्वल होता है। जैसे

चन्द्रमा का अपना स्वरूप काला है, जिस को वह अमावास्या में प्रकट करता है, किन्तु सूर्य की सत्ता से उसका स्वरूप देदीप्यमान उज्ज्वल होता है, जिसको वह पूर्णमासी और अन्य तिथियों में प्रकट करता है।

विश्व की उत्पत्ति और विनाश में महाकाल के स्वरूपों को चन्द्रमा के स्वरूपों के सदृश्य समझना चाहिए।

अध्याय ६

महा अवधि एवं अवस्थायें

महाकाल के परिवर्तन में कुछ अधिक तमोगुण बढ़ने से उसका वेग इतना धीमा हो जाता है कि साधारण बुद्धियों को उसका ज्ञान तक नहीं हो सकता। इसी कारण समस्त विश्व और प्राणीमात्र का बराबर परिवर्तन होने पर भी साधारण ज्ञान से अस्थिर विश्व की स्थिति प्रतीत होती है। उस अस्थिर को स्थिर प्रतीत कराने वाली शक्ति का नाम महा अवधि अथवा अवस्था है।

काल से विश्व का परिवर्तन हो रहा है और अवधि से विश्व की स्थिति प्रतीत होती है। काल के परिवर्तन-वेग को आच्छादित करके विश्व की स्थिति को प्रतीत कराने वाली शक्ति अवधि है। जैसे सूर्य की अवधि तक सूर्य की स्थिति प्रतीत होती है, पृथ्वी की अवधि तक पृथ्वी प्रतीत होती है, चन्द्रमा की अवधि तक चन्द्रमा प्रतीत होता है।

यद्यपि महाकाल सब का बराबर परिवर्तन कर रहा है, परन्तु अपनी-अपनी अवधि तक सब प्रतीत होते हैं। इस प्रकार कोई भी प्राणी अपनी अवस्था तक ही प्रतीत होता है, जब कि महाकाल उसको बराबर परिवर्तित करता रहता है।

यह तो स्थूल सृष्टियों का उदाहरण है। परन्तु इन्द्र, आकाश, वायु आदि जो सूक्ष्म हैं, उनकी भी अवधि होती है और वे भी अपनी-अपनी अवधियों तक ही अपनी-अपनी शक्तियों में रह सकते हैं।

सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की अवधियां होती हैं, यहां तक कि अपनी अवधि से ही प्रकृति भी प्रकृति के नाम से उच्चारित होती है।

इसी भांति समस्त विश्व के प्राणीमात्र तथा पिण्डों, ब्रह्माण्डों और तत्त्वों की अपनी-अपनी अलग-अलग अवधियां होती हैं। कार्यों के होने और करने की भी अवधियां होती हैं, जिससे उन कार्यों को भी प्रतीति होती है।

यदि समस्त विश्व अपनी अवधि से स्थित न होता तो महाकाल के परिवर्तन से उसकी प्रतीति ही न हो सकती। विश्व की उत्पत्ति में अवधि इतनी आवश्यक शक्ति है कि अवधि से ही हमें विश्व-निर्माण की प्रतीति होती है। हमें अपनी अवधि से ही अपने होने की प्रतीति हो रही है।

महाकाल के भूत, वर्तमान, भविष्य भेदों के साथ पदार्थों और प्राणियों की अवधियों में बाल, तरुण और वृद्ध तीन भेद होते हैं। जिस मनुष्य को हम बाल अवस्था में देखते हैं, यदि उसी को फिर तरुणावस्था या बुढ़ापे में देखें तो ठीक-ठीक नहीं पहचान सकते, क्योंकि काल के परिवर्तन से वह बालक

तरुणाई या बुढ़ापे में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु साधारण दृष्टि से, उसकी अवधि तक, हम उसको एक-सा ही मनुष्य समझते हैं।

समस्त सृष्टि में हम जो कुछ देख रहे हैं, वे सब महाकाल के परिवर्तन से पल-पल में परिवर्तित हो रहे हैं। यद्यपि हम और हमारी दृश्यमान् सृष्टि काल के परिवर्तन से पल-पल में दूसरे हो रहे हैं, परन्तु अपनी-अपनी अवधियों के कारण हम अपने को और सब दृश्यमान् सृष्टियों को साधारण ज्ञान से एक-सा समझ रहे हैं। अवधि कितनी महान शक्ति है, जो महाकाल के परिवर्तन से परिवर्तित होते हुए विश्व को प्रतीति कराती है। इस प्रकार विश्व के अन्दर जितने प्राणी और दृश्यमान् पदार्थ हैं, वे सब अपनी-अपनी अवधियों तक अपने-अपने स्वरूप में प्रतीत होते हैं। विश्व-उत्पत्ति के साथ अवधि के अनन्त भेद होते हैं, जिन के द्वारा प्राणी आदि समस्त विश्व की प्रतीति होती है। सब अवधियां एक महाअवधि के अङ्ग हैं, जो विश्व-विराट् की होती है।

अवधि के प्रधान दो भेद होते हैं—एक प्रकाशमान् और दूसरा अन्धकारमय। प्रकाशमान् अवधि में विश्व की समस्त दृश्यमान् सृष्टियों की स्थिति प्रतीत होती है, जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश से सब दृश्यमान् पदार्थों की प्रतीति होती है।

अन्धकारमय अवधि में विश्व के समस्त प्राणी और पदार्थ शान्त होकर अदृश्य हो जाते हैं, जैसे रात्रि के अन्धकार में

दृश्य पदार्थ अदृश्य होते हैं। इसी भांति प्रकाशमान् अवधि में प्राणी आदि समस्त विश्व दृश्यमान होकर प्रतीत होते हैं और अन्धकारमय अवधि में सब लुप्त हो जाते हैं।

महाअवधि में ही विश्व की प्रथम, मध्यम, अन्तिम अथवा प्राणियों की बाल, तरुण, वृद्ध अवस्थायें होती हैं।

अवधि में सत्त्व, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं। उस के सत्त्वगुण में बाल अवस्था, रजोगुण में तरुण अवस्था और तमोगुण में वृद्धावस्था होती है।

अवधि में स्थित गुण और निश्चित् शक्ति होती है। अवधि के प्रथम, मध्यम, अन्त अर्थात् बाल; तरुण और वृद्ध—तीन भेद होते हैं।

अध्याय १०

●

महाकर्म—इन्द्र

महा-अवधि के परिवर्तन में कुछ अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने से विश्व की शासन-सत्ता उत्पन्न होती है अथवा विश्व-स्थिति की आरम्भ अवस्था में कुछ अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने से कालान्तर में विश्व की शासन-सत्ता उत्पन्न होती है जिसके द्वारा विश्व का प्रत्येक कार्य नियमित रूप से संगठित, सम्बन्धित और संचालित होता है। उस महाविधान स्वरूप का नाम 'महाकर्म' अथवा 'इन्द्र' है। उसके अन्तर्गत विश्व की समस्त शासन-सत्तायें पैदा होती हैं।

जहाँ कर्त्ता जिस वस्तु के लिए नियत अवधि में क्रिया करता है, वहाँ कर्म बन जाता है। कर्म में कर्त्ता, अवधि, क्रिया और उस वस्तु का संगठन एवं बन्धन होता है। इसलिए कर्मतत्त्व अथवा इन्द्र में शासन के साथ बन्धन शक्ति पैदा होती है।

कर्म के सत्त्व, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं। उसके रजोगुण से विश्व की शासन-सत्ता उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा महाकर्म अथवा इन्द्र समस्त विश्व पर विभिन्न प्रकार से शासन करता है। उसकी महाशासन-सत्ता से आकाश पिण्डों को धारण करता है। वायु आदान-प्रदान का कार्य करता है।

अग्नि प्रकाश और दाह् करता है। जल भाप, मेघ और वर्षा बनता है। सूर्य, चन्द्रमा और तारे नियमित रूप से कार्य करते हैं। पृथ्वी नियमित रूप से दैनिक और वार्षिक गति में घूमती है। वनस्पतियाँ नियमित रूप से फूलती और फलती हैं। उसी के शासन से सब वनस्पतियाँ अपने-अपने रस लेने में समर्थ होती हैं। इस तरह् विश्व का समस्त शासन 'महा-कर्म'—'इन्द्र'- के रजोगुण द्वारा होता है।

कर्म के रजोगुण में कुछ अधिक तमोगुण बढ़ने से विश्व-बन्धन-शक्ति पैदा होती है अर्थात् शासन में कुछ अधिक तमोगुण बढ़ने पर बन्धन-शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म की तामसता से बन्धन उत्पन्न होता है। इसलिए महाकर्म के तमोगुण से समस्त जगत बन्धन के अधीन रहता है। कर्म ही से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी परस्पर बंधे हैं और सूर्य पिण्डों को आकर्षित किए रहता है। उसी से पृथ्वी अपने समस्त निवासियों को आकर्षित किए रहती है। कर्म-बन्धन से ही सूर्य उदय होकर अस्त और अस्त होकर उदय होता है। कर्म-बन्धन से ही दिन के पीछे रात्रि और रात्रि के पीछे दिन घूम रहा है। कर्म-बन्धन से ही आकाश में शब्द और वायु में स्पर्श है। कर्म-बन्धन से ही तेज अपनी सीमा से ज्यादा नहीं तप सकता। उसी से जल (समुद्र, झील, नदी, मेघ, वर्षा और भाप बनकर) घूमता है। कर्म ही से कुटुम्बीजनों का सम्बन्ध, देशों का संगठन और राज्यों का प्रबन्ध होता है।

कर्म-बन्धन से ही पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, तारे परस्पर एक-दूसरे के आकर्षणों से सम्बन्धित होते हैं। उसी से बीज और वृक्ष परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, वनस्पतियाँ पृथ्वी आदि पिण्ड और ब्रह्माण्ड इत्यादि समस्त विश्व बन्धन के अधीन रहता है और उसी से पुरुष-प्रकृति परस्पर सम्बन्धित रहते हैं।

कर्म के शासन में कुछ और तमोगुण बढ़ने से विश्व आकर्षणों से बंधता है। बन्धन-शक्ति में कुछ और तमोगुण बढ़ने से विश्व में अविधि कार्य होते हैं, जिन से विश्व में दुःख उत्पन्न होता है।

महा-कर्म अथवा इन्द्र के सत्त्वगुणी शासन से विश्व में आनन्द व सुख पैदा होता है। विश्व में जितनी भी सुखमय सृष्टियाँ हैं, सब इन्द्र के सत्त्वगुणी शासन से ही सुखी होती हैं। सुखों के स्थान को स्वर्ग कहते हैं। इसलिए सत्त्वगुणी कर्म से विश्व में लौकिक और पारलौकिक स्वर्ग की सृष्टियाँ होती हैं।

कर्म के तमोगुणी शासन से विश्व में दुःख और भय पैदा होते हैं। विश्व में जितनी भी दुःखमय सृष्टियाँ होती हैं, सब तमोगुणी कर्म से ही होती हैं। लौकिक और पारलौकिक दुःखों के स्थान को नरक कहते हैं। इसलिए तमोगुणी कर्म से विश्व में नारकीय सृष्टियाँ होती हैं।

सत्त्वगुणी कर्मों से मनुष्यादि प्राणी लौकिक और पार-

लौकिक सुखों के स्थान स्वर्ग और तमोगुणी कर्मों से दुःखों के स्थान नरक को प्राप्त करते हैं।

प्राणीमात्र अपने-अपने सत्त्वगुणी और तमोगुणी कर्मों के अधीन सुख-दुःख भोगते हैं। मनुष्य आदि प्राणी कर्म करने में स्वतन्त्र और उनके फल भोगने में कर्म-शासन के परतन्त्र होते हैं। इसलिए कर्म ही सुख और दुःख देने वाला शासक अथवा राजा है।

जिस प्रकार प्राणियों के पञ्चभौतिक शरीर को सुख-दुःख देने वाला शासक उनके द्वारा होने वाला कर्म है, उसी भांति आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी पञ्च-महाभूतों का सञ्चालन करने वाला शासक अथवा राजा 'महाकर्म'—'इन्द्र'—है। उसके शासन से सब विधिपूर्वक सञ्चालित और अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इनको देव कहते हैं। देव का अर्थ देने वाला है। महा-कर्म द्वारा इन्हीं से मनुष्यादि प्राणियों को सुख-दुःख प्राप्त होते हैं।

महाकर्म इन्द्र आकाश से सूक्ष्म और प्रथम उत्पन्न होता है। मनुष्यादि प्राणी शारीरिक पञ्चतत्त्वों से अथवा शारीरिक आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, तत्त्वों द्वारा ही कर्म करते हैं। जैसे शारीरिक आकाश-तत्त्व के सत्त्वगुण से कान बनते हैं और उनसे सुनने का कार्य होता है। शारीरिक वायुतत्त्व के सत्त्वगुण से त्वचा बनती है और उससे शीतोष्ण का ज्ञान होता

है। शारीरिक अग्नितत्त्व के सत्त्वगुण से नेत्र बनते हैं और उनसे देखने का कार्य होता है। शारीरिक जलतत्त्व के सत्त्वगुण से रसना बनती है और उससे रसों का ज्ञान होता है। शारीरिक पृथ्वीतत्त्व के सत्त्वगुण से घ्राण बनती है और उससे गन्ध का ज्ञान होता है।

शारीरिक आकाशतत्त्व के रजोगुण से वाणी उत्पन्न होती है और उससे बोलने का कार्य होता है। शारीरिक वायु तत्त्व के रजोगुण से हस्त-पाद उत्पन्न होते हैं, उनसे लेने-देने और चलने-फिरने के कार्य होते हैं। शारीरिक अग्नि तत्त्व के रजोगुण से मुँह और जठराग्नि उत्पन्न होते हैं। मुँह से खाने का और जठराग्नि से खाद्य पदार्थों को पचाने का कार्य होता है। शारीरिक जलतत्त्व के रजोगुण से लिंग और रुधिर बनता है। लिंग से मूत्र उतरने और मैथुन का कार्य होता है तथा रुधिर शरीर में घूमने का कार्य करता है। शारीरिक पृथ्वी-तत्त्व के रजोगुण से गुदा उत्पन्न होती है और उससे मल उतरने का कार्य होता है।

शारीरिक आकाशतत्त्व के तमोगुण से शोक उत्पन्न होता है और उससे शोक-कार्य होते हैं। शारीरिक वायुतत्त्व के तमोगुण से भय पैदा होता है और उससे भयभीत कार्य होते हैं। शारीरिक अग्नितत्त्व के तमोगुण से क्रोध उत्पन्न होता है और उससे क्रुद्ध कार्य होते हैं। शारीरिक जलतत्त्व के

तमोगुण से आलस्य पैदा होता है और उससे आलसी कार्य होते हैं। शारीरिक पृथ्वीतत्त्व के तमोगुण से निद्रा उत्पन्न होती है और उससे सोने का कार्य होता है। सारांशतः शारीरिक पञ्चतत्त्वों के कर्म से ही मनुष्यादि प्राणी शरीर-सम्बन्धी समस्त कार्य करते हैं।

जिस भांति प्राणी शारीरिक पञ्चतत्त्वों के कर्म द्वारा शरीर-सम्बन्धी समस्त कार्य करने में समर्थ होते हैं, उसी भांति विश्व में 'महाकर्म'–'इन्द्र'—द्वारा पञ्चमहाभूत अपने-अपने कार्य में समर्थ होते हैं। विश्व का समस्त शासन और सुख-दुःख महाकर्म—इन्द्र—के अधीन हैं। इन्द्र आकाश से सूक्ष्म और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदि समस्त विश्व का शासक अथवा राजा है।

कर्म के सत्त्वगुण से विश्व में विभिन्न सुख की सृष्टियां अथवा समस्त सुख पैदा होते हैं, कर्म के तमोगुण से विश्व में विभिन्न दुःख की सृष्टियां अथवा अनेक दुःख पैदा होते हैं और कर्म के रजोगुण से समस्त विश्व पर शासन होता है, जिसके द्वारा नियमित रूप से विश्व के समस्त कार्य होते हैं।

कर्म में बन्धन-गुण और प्रबन्ध-शक्ति होती है। कर्म से सुख, शासन और दुःख सम्बन्धी तीन प्रकार के कार्य होते हैं। उस के सत्त्वगुण से सुख, रजोगुण से शासन और तमोगुण से दुःख होता है।

अध्याय 11

●

महा-आकाश

इन्द्र के रजोगुण में कुछ अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने पर धारण-शक्ति का आकार उत्पन्न होता है। वह अनन्त विस्तृत होकर सर्वत्र फैला हुआ है। उसको महाकाश या आकाश कहते हैं।

आकाश के सत्त्व, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं। उसके सत्त्वगुण से धारण-शक्ति, रजोगुण से शब्द और तमोगुण से विस्तार उत्पन्न होता है।

महाकाश की धारण-शक्ति वायु, तेज, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह सबको धारण करती है। जिस प्रकार पृथ्वी अपनी समस्त वस्तुओं को अपने भिन्न-भिन्न स्थानों में धारण किये रहती है, उसी प्रकार महाकाश भी सब नक्षत्र, ग्रह, पिण्ड और ब्रह्माण्डों को अपने भिन्न-भिन्न स्थानों में धारण कर रहा है। हमको धारण करने वाली पृथ्वी है और पृथ्वी को धारण करने वाला आकाश है, इसलिए आकाश ही सबको धारण कर रहा है। पृथ्वी को धारण-शक्ति आकाश से ही प्राप्त होती है। आकाश ही सूक्ष्म और स्थूल सृष्टियों को धारण कर रहा है।

वायु, तेज, जल, पृथ्वी, आदि तत्वों तथा सूर्य. चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि विश्व के सब पिण्डों को आकाश में धारण करने वाली प्रत्येक की अलग-अलग धारण-शक्तियाँ हैं। सब मिलकर अनन्त हैं और सब महाकाश में शारीरिक सूक्ष्म नाड़ियों के जाल की तरह फैली हुई हैं।

महाकाश की भांति प्राणियों के शरीर में भी प्रत्येक अवयव को धारण करनेवाली, शारीरिक आकाशतत्त्व से उत्पन्न, एक-एक सूक्ष्म धारण-शक्ति होती है, जिनको हम सूक्ष्म नाड़ियाँ भी कह सकते हैं। शारीरिक वायु शरीर के अन्दर उन्हीं में सञ्चार करता हुआ शरीर के प्रत्येक अवयव में रुधिर को पहुँचाता है।

जिस प्रकार महा वायु आकाश में बहकर सबको स्पर्श करता है, उसी प्रकार शारीरिक वायु शरीर के अन्दर उन धारण-शक्तियों में बहता हुआ शरीर के प्रत्येक अवयव में पहुँचता है। समस्त शरीर के विभिन्न अङ्ग उन धारण-शक्तियों द्वारा ही अपने-अपने स्थानों में स्थित रहते हैं। जैसे महाकाश में समस्त तत्त्व और पिण्ड, अपने-अपने कार्य करते हुए भी, आकाश की धारण-शक्तियों द्वारा अपने-अपने स्थानों में धारित हैं।

आकाश की धारण-शक्ति में जागृति, कर्त्ता, क्रिया, कर्म, अवधि और आधार का संयोग होता है और जहाँ इनका संयोग होता है, वहाँ शब्द उत्पन्न हो जाता है। कर्त्ता, क्रिया,

कर्म रजोगुण में आते हैं। इसलिए शब्द आकाश के रजोगुण से उत्पन्न होता है। शब्द उत्पन्न होते ही आकाश में फैलता है और फैलते ही वह आकाश की धारण-शक्ति में लय हो जाता है।

विश्व में जितने शब्द और ध्वनियाँ होती हैं, सब आकाश के रजोगुण से उत्पन्न होती हैं। जहाँ शब्द होता है, वहां आकाशतत्त्व रहता है। वास्तविक शब्द और ध्वनि होने वाली सृष्टियों में आकाश सर्वत्र विद्यमान रहता है। मनुष्य आदि प्राणियों के लिए शब्द के दो भेद होते हैं--सार्थक और निरर्थक। जिन शब्दों का कुछ अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता, वे निरर्थक कहे जाते हैं और जिनका अर्थ ज्ञात होता है, उनको सार्थक शब्द कहा गया है। प्राणीमात्र की ध्वनियाँ और सब प्रकार के शब्द आकाश के रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। प्राणियों के शरीर में जो आकाशतत्त्व होता है, उसके सत्त्वगुण से शब्द को धारण करनेवाली स्मरण-शक्ति, हृदय और कान पैदा होते हैं। रजोगुण से ध्वनि पैदा होती है। इसलिए सब प्रकार की ध्वनियों और शब्दों का ज्ञान प्राणियों को कानों के द्वारा होता है और कानों में पहुँचे हुए शब्दों के परिणाम को हृदय की स्मरण-शक्ति धारण करती है, जिसको याद करना कहते हैं।

आकाश के तमोगुण से विस्तार होता है। आकाश के जितने दूरस्थ विस्तार में हम दृष्टि डालेंगे, उतना ही अधिक अन्धकार दिखाई देगा। आकाश में हम जितना नीलापन देखते

हैं, वह सब अन्धकार है। वही अन्धकार रात्रि में पृथ्वी को आच्छादित करता है। अन्धकार ही तमोगुण है। प्रकृति के विस्तार के साथ तमोगुण भी विस्तृत होता है। आकाश के स्वरूप में प्रकृति अपने विस्तार में पूर्ण विस्तृत हो जाती है, इसलिए तमोगुण से आकाश अपने अनन्त विस्तार में विस्तृत होता है। किन्तु उस तमोगुण को धारण करने वाला सतोगुणी धारणरूप आकाश चैतन्य के सदृश अनन्त और निर्मल होता है। महाकाश, अनन्त-चैतन्य और अनन्त-प्रकृति के सम्मिश्रण से विश्व का आकार बनता है। इसलिए आकाश में ही सब का विकास होता है।

महाकाश के अन्तर्गत अनन्त छोटे-छोटे आकाश होते हैं। जहाँ शब्द वायु, तेज, जल, पृथ्वी के सूक्ष्म और स्थूल भाग हों, वहाँ अवश्य आकाश समझना चाहिए। घटाकाश के अन्दर भी आकाश होता है। इसी प्रकार मनुष्य, गाय, भैंस, हाथी, चींटी, हंस, कौवा, गरुड़, मशक, दंश और बेलवृक्ष में भी भिन्न-भिन्न भांति के शारीरिक आकाश होते हैं। जिसमें त्वचा विस्तृत होती है, उसको शारीरिक आकाश कहते हैं।

महाकाश में जिस भांति शब्द, वायु, तेज, जल, पृथ्वी अपने-अपने विस्तार में विस्तृत होते हैं, उसी भांति शारीरिक आकाश में शारीरिक तत्त्व त्वचा के स्वरूप में विस्तृत होते हैं।

महाकाश में जिस प्रकार शब्द, वायु, तेज, जल और पृथ्वी

स्थित हैं, उसी प्रकार शरीराकाश में शारीरिक तत्त्व स्थित रहते हैं।

प्राणियों में शारीरिक आकाशतत्त्व के सत्त्वगुण से स्मरण-शक्ति, हृदय और कान पैदा होते हैं। रजोगुण से वाणी और तमोगुण से शोक एवं शरीर का अन्तिम विस्तार होता है। आकाश में प्रकाश, शक्ति, जागृति, सत्त्वगुण, रजोगुण, रचना, परिवर्तन, अवधि, कर्म, धारणा, विस्तार, शब्द और अन्धकार विद्यमान रहते हैं। आकाश अन्धकार से ढका हुआ रहता है, जैसे बादलों से सूर्य का प्रकाश ढक जाता है। महा-चैतन्य के अनन्त प्रकाश में आधेय-रूपा महाप्रकृति महाकाश के स्वरूप में अपना विराट्-रूप प्रकट कर विश्व-विराट् का आकार बनती है। चैतन्य के प्रकाश और मध्यस्थ आकाश में प्रकृति अन्धकार धारण किये हुए रहती है। जैसे रात्रि को सूर्य और हमारे मध्यस्थ पृथ्वी का अन्धकार होता है, वैसे ही आकाश का अन्धकार हमारी ओर रहता है, जिसको हम आकाश में देखते हैं।

दिन में वही अन्धकार सूर्य के प्रकाश से नीला मालूम होता है। आकाश में जहां सूर्यादि प्रकाशमान पिण्डों का अभाव होता है, वहां उस अन्धकार का भाव बना रहता है। अन्धकार नीला नहीं, किन्तु काला होता है। उसी अन्धकार का कुछ हिस्सा रात्रि को पृथ्वी की छाया बनकर पृथ्वी के रात्रि वाले हिस्से को आच्छादित करता है। इसी को हम रात्रि

कहते हैं। किन्तु दिन के होते ही वह अन्धकार सूर्य के प्रकाश में लय हो जाता है। अन्धकार में यह स्वाभाविकता होती है कि वह प्रकाश के होते ही अन्धेरापन छोड़कर प्रकाश के सदृश हो जाता है अर्थात् प्रकाश में लय हो जाता है। इसीलिए प्रकाश के होते हुए अन्धकार नहीं रह सकता। प्रकाश शक्तिरूप प्रकृति का आधार है और अन्धकार का आधार प्रकृति है। इसलिए बिना प्रकृति का अन्धकार प्रकाश में नहीं टिक सकता। जैसे प्राकृतिक पृथ्वी के रात्रि वाले हिस्से में अन्धकार टिकता है और उस हिस्से की ओर जब दिन में सूर्य का प्रकाश हो जाता है, तब अन्धकार लुप्त हो जाता है। इसी भांति अन्धकार छोटे विस्तार में हो चाहे बड़े विस्तार में, वह प्रकृति के अन्दर अथवा प्रकृति में रहता है और प्रकाश के होते ही लुप्त हो जाता है, जैसा कि आकाश में रहने वाली पृथ्वी के रात्रि और दिन के क्रम में होता है।

सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी आकाश में हैं। पृथ्वी दैनिक और वार्षिक चालों से आकाश में घूम रही है। सूर्य, चन्द्रमा आकाश में तप रहे हैं। वायु आकाश में बहता है। मेघ आकाश में बनते हैं। तारे आकाश में चमकते हैं। वृक्ष जमीन से उगकर आकाश में फैलते हैं। चिड़ियाँ आकाश में उड़ती हैं। मनुष्य, गाय, भैंस, हाथी, घोड़े आदि के घूमते-फिरते, उठते-बैठते उनके शरीर का अधिक हिस्सा आकाश में रहता है। चलते हुए हमारे केवल पैर पृथ्वी पर रहते हैं और शेष सारा

शरीर आकाश में रहता है। उठते-बैठते भी हमारा थोड़ा हिस्सा पृथ्वी पर रहता है, बाकी सारा शरीर आकाश में रहता है।

पञ्चतत्त्वों में आकाश सबसे महान् तत्त्व है। आकाश के सत्त्वगुण से धारण-शक्ति, रजोगुण से शब्द और तमोगुण से विस्तार होता है।

अध्याय १२

●

महावायु

आकाश की धारण-शक्ति में कुछ पोषित-तमोगुण के बढ़ने पर कालान्तर में स्पर्शता आ जाती है अथवा हिलने की शक्ति उत्पन्न होती है। वह हिलने से समस्त आकाश में फैलती है और धीरे-धीरे उसमें तीव्र गति आ जाती है। उसको वायु कहते हैं। वायु अपने वेग से आकाश में सर्वत्र फैलकर विस्तृत होता है और विश्व में सबको स्पर्श करता है। वह स्पर्श और बहाव से विश्व में सब पदार्थों के सूक्ष्म अंशों का शोषण कर उन्हें बिखेरता है। स्पर्श का अर्थ हिलकर या बहकर दूसरों को छूना और बिखेरने का अर्थ फेंकना, देना, प्रदान करना है।

विश्व में समस्त आदान और प्रदान की क्रियायें वायुतत्त्व से होती हैं। वायु आकाश में भिन्न-भिन्न गति से बहता हुआ विश्व में सबको स्पर्श कर उनके सूक्ष्म अंशों का शोषण करता है और बहता हुआ उन्हें बिखेरता है। वह भाव के स्थान से तत्वों के अंश का आदान करता है और अभाव के स्थानों में उन्हें प्रदान करता है।

जिस प्रकार पाँव से चलते-फिरते हैं और हाथों से लेते-देते

हैं, ठीक उसी प्रकार वायु से प्राकृतिक विश्व का कार्य होता है। वायु को हम प्रकृति के हाथ-पाँव भी कह सकते हैं। प्राणियों में भी हाथों से लेने-देने और पाँव से चलने-फिरने की क्रियायें वायु-तत्त्व से ही होती हैं।

जिस प्रकार प्राणी पांव से कभी मन्द, कभी तीव्र चाल से चलते हैं और कभी रुक जाते हैं, उसी प्रकार वायु कभी मन्द, कभी तीव्र गति से चलता है और कभी स्थिर-सा हो जाता है। आकाश में वायु की गति सर्वत्र एक सी नहीं होती। कहीं तीव्र, कहीं मन्द, कहीं गाढ़ी और कहीं हल्की होती है। प्राकृतिक विश्व को उसकी जहाँ जैसी आवश्यकता है, वहाँ उसकी गति और विधि उसी प्रकार की होती है। वायु भिन्न-भिन्न चालों से बहता रहता है। वह कई प्रकार की गतियों से चलता है। कभी वह स्थिर-सा जान पड़ता है, कभी मन्द-मन्द गति से चलता है, कभी मन्द गति से अधिक सन-सन गति से चलता है, कभी मिट्टी और पत्तों को उड़ाने वाली भौं-भौं गति से चलता है, कभी पेड़ों को उखाड़ने वाली उलट-पुलट आँधी की गति से चलता है और कभी पत्थरों को उड़ाने वाली बलवान् गति से चलता है। प्रायः पत्थरों को उड़ाने वाला वायु कभी-कभी हिमालय पहाड़ की हिमाच्छादित चोटियों के आस-पास चलता है। इस प्रकार विश्व में अनेक प्रकार की बलवान् गतियों से वायु का सञ्चालन होता रहता है।

वायु बल का निधि है। वह अपनी तीव्र गति के कारण

सबसे बलवान् है। वायु अपने बल के वेग से सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा और तारे आदि पिण्डों को आकाश में घुमाता है। प्रकृति अपने वायु रूपी हाथों से आकाश-क्रीड़ा-स्थली में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि विश्व के अनेक रंग-रंगीले पिण्डों से एक नियमित रूप में खेल रही है। उस वायु को हम बल का निधि कह सकते हैं, जो अपने बल से महाकाश में पिण्डों को घुमाता है।

वायु अरूप है। उस में शब्द, स्पर्श हैं,– रूप नहीं. इसलिए वह नेत्रों से दिखाई नहीं देता। वायु आकाश में अनन्त सीमा तक फैला हुआ है, जिससे वह सुगमता से विश्व में अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र, ग्रह, वनस्पति. अण्ड-पिण्ड, जीव-जन्तु आदि सबको स्पर्श करता है और अपने बल से सब पदार्थों के सूक्ष्म अंशों का शोषण कर आकाश में फैलाता है। वही सूर्यादि पिण्डों से प्रकाश और तेज, चन्द्रमा से प्रकाश और शीत को आकाश में फैलाते हुए पृथ्वी आदि पिण्डों तक पहुँचाता है।

जल से बनी भाप को आकाश में फैलाता है, जिससे मेघ बनते हैं। फिर मेघों से वर्षा को पृथ्वी पर बिखेरता है। पृथ्वी पर बिखरे हुए जल के कुछ अंश को पार्थव्य-वायु पृथ्वी के अन्दर शोषता है। उस जल के कुछ अंश को वानस्पत्य-वायु वनस्पतियों की जड़ों द्वारा वनस्पतियों के अंग-प्रत्यंगों में पहुंचाता है जिससे वे हरी-भरी होकर फूलती और फलती हैं।

पृथ्वी में व्याप्त वायु को पार्थव्य-वायु और वनस्पतियों में व्याप्त वायु को वानस्पत्य-वायु कहते हैं।

किसी स्थान में शब्द पैदा होने पर शीघ्रता से वायु ही उसको इधर-उधर फैलाता है, इसलिए शब्द के स्थान से दूर रहने पर भी प्राणियों को उसका ज्ञान होता है। बादलों की गरजना हमसे बहुत दूर आकाश में होती है, परन्तु वायु उन को वहाँ से फैलाते हुए हमारे कानों में पहुँचाता है। इसी भांति सब प्रकार के सार्थक और निरर्थक शब्दों और ध्वनियों को वायु-तत्व ही हमारे कानों में पहुंचाता है। वायु में यह स्वाभाविकता है कि वह सबसे शीघ्र प्रकाश को फैलाता है, फिर शब्द को; इनके पश्चात् तेज और शीत को, फिर भाप और गन्ध को। विश्व के पदार्थों में जिस प्रकार सूक्ष्मता और भारीपन होता है, वायु उनका फैलाव उसी प्रकार शीघ्र और मन्द गति से करता है।

यद्यपि प्रकाश, शब्द, तेज, शीत, भाप, गन्ध आदि समस्त पदार्थों का फैलाव आकाश के विस्तार में होता है तथापि आकाश भी उनका फैलाव वायु की सहायता के बिना नहीं कर सकता। इस प्रकार आकाश में फैलाव के समस्त कार्य वायु-तत्व से होते हैं। वह शब्द को फैलाकर हमारे कानों में पहुँचाता है। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे और बिजली के प्रकाश को फैलाकर हमारे नेत्रों में पहुँचाता है। नेत्रों से दृष्टि को सर्वत्र पहुंचाता है। अग्नि, सूर्य से तेज और चन्द्रमा से शीत

को फैलाकर हमारी त्वचा में पहुंचाता है। कण्ठ से वाणी को फैलाता है और पुष्पों से गन्ध को फैलाकर हमारी नासिका में पहुंचाता है। वायु से ही वनस्पतियों की जड़ें पृथ्वी के अन्दर और तना आकाश में फैलता है। इस तरह विश्व में फैलाव के समस्त कार्य वायु से ही होते हैं।

जब वायु-मण्डल में शब्द, प्रकाश, तेज, शीत, भाप और गन्ध आदि पदार्थ अपनी सीमा से अधिक फैलकर विच्छिन्न हो जाते हैं, तब प्राणियों को उनका बोध नहीं हो सकता। शोषण एवं सुखाने के कार्य भी वायु-तत्व से होते हैं। वायु से ही जल सूखता और अग्नि बुझता है। उसी से जल सूखकर भाप और मेघ बनते हैं। उसीसे पृथ्वी अपने अन्दर जल शोषती है, जिससे धारा और नदियाँ प्रवाहित होती हैं। उसी से वनस्पतियों की पत्तियाँ अपने खाद्य-पदार्थों,—रस, रोशनी आदि को शोषती हैं तथा हिलती, उड़ती और सूखती हैं। वायु से ही मनुष्य आदि प्राणी सांस लेते हैं, अन्न-जल निगलते हैं। उसी से मल-मूत्र उतरता है और शरीर के अन्दर रस, रुधिर का बहाव होता है। प्राणियों का शारीरिक बल भी वायु-तत्व से बनता है।

वायु-तत्व की सहायता से प्राणी पृथ्वी पर चलते-फिरते हैं, चिड़ियाँ आकाश में उड़ती हैं और मछलियाँ जल में तैरती हैं। वायु-तत्व से अग्नि जलता और फैलता है। उसीसे जल की गति होती है, जिससे नदियाँ बहती हैं, समुद्र में तूफान उठते हैं,

भाप उठती है और मेघ आकाश में फैलते, घूमते एवं विच्छिन्न होते हैं। वायु से ही पृथ्वी वार्षिक और दैनिक गति में घूमती है।

पृथ्वी में शीतोष्ण, नमी और गन्ध उसकी आवश्यकता से अधिक होने पर वायु-तत्व ही उनको उड़ाकर आकाश में ले जाता है। समस्त विश्व में स्पर्श, धावन, फैलाव. सुखाना, शोषण और आदान-प्रदान की क्रियाएँ वायु-तत्व से ही होती हैं। वायु के सत, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं। उसके सत्वगुण से स्पर्श, रजोगुण से बहना, फैलना, धावन और तमोगुण से सुखाने एवं शोषण का कार्य होता है।

मनुष्य आदि प्राणियों की त्वचा वायु-तत्व के सत्वगुण से उत्पन्न होती है, इसलिए प्राणियों को त्वचा के वायु-युक्त तन्तुओं द्वारा ही वायु की सरसराहट, शीतोष्ण, छूने, काटने आदि सब प्रकार के स्पर्शों का ज्ञान होता है। वायु-तत्व के रजोगुण से प्राणियों में सांस, बल, चलने-फिरने, दौड़ने, उड़ने और लेने-देने की क्रियायें होती हैं। उसके तमोगुण से प्राणी सूखते या सिकुड़ते हैं और उनमें भय तथा चिन्ता होती है।

वनस्पतियों की त्वचा भी वायु के सत्वगुण से पैदा होती है। उन्हें भी शीतोष्ण आदि स्पर्शों का ज्ञान त्वचा के द्वारा होता है। वायुतत्व के रजोगुण से बनस्पतियों में सांस लेने और फेंकने की क्रियायें होती हैं और उन्हें बल प्राप्त होता है। वायु-तत्व के तमोगुण से वनस्पतियां सूखती हैं।

वायु-तत्व समस्त विश्व में सतोगुण से स्पर्श, रजोगुण से बहाव, फैलाव, आदान-प्रदान और तमोगुण से शोषण या सुखाने का कार्य करता है। उसमें स्पर्श गुण और धावन शक्ति होती है। विश्व की बनावट में वायु बल का निधि है। इस प्रकार वायु-तत्व को निराकार और साकार प्राकृतिक विश्व की त्वचा, बल, सांस, हस्त और पाद समझना चाहिए।

अध्याय 13

महाअग्नि

वायु में कुछ अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने पर कालान्तर में तेज उत्पन्न होता है। तेजपूर्ण वायु की तरंगों का परस्पर संघर्षण होने से अग्नि उत्पन्न होता है। उसमें रूप आता है।

जिस प्रकार गर्मियों के दिनों में तेजपूर्ण वायु की तरंगों के संघर्षण से बिजली उत्पन्न होकर उसमें रूप आता है, जिससे हम बिजली को देख सकते हैं, ठीक उसी प्रकार वायु के स्पर्श में कुछ अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने पर उस में तेज पैदा होता है। विश्व की उत्पत्ति में अग्नि तेरह स्वरूपों में परिवर्तित होते हुए समस्त विश्व का कौशल बनाता है और चौदहवें स्वरूप से दाहक शक्ति बनकर विश्व के दोषों का विनाश करता है।

विश्व की उत्पत्ति और विनाश में अग्नि के मुख्य दो भेद होते हैं—पोषक और नाशक। अग्नि ही समस्त विश्व का पोषण करता है और वही समस्त विश्व के दोषों का नाश करता है।

महाचैतन्य में अग्नि परम-प्रकाश रूप से रहता है। महा-

चैतन्य के परम प्रकाशक से शक्ति रूप प्रकृति चेतन होकर प्रथम विश्व की बुद्धि बनती है। उसमें जो अग्नि का प्रकाश आता है, उसको ज्ञान कहते हैं।

अग्नि सत्त्वगुण में चेतन रूप से, सृजनशक्ति अथवा महा-जागृति में ज्ञान रूप से, रजोगुण में उत्पादक अथवा ब्रह्मारूप से. रचयित्री में कला और आभा रूप से, काल में परिवर्तन रूप से, अवधि में स्थिति रूप से, इन्द्र में शासन रूप से, आकाश में धारणा रूप से, वायु में धावन रूप से, नेत्रों से जो अग्नि दिखाई देता है उसमें रूप-भेद से, जल में द्रव रूप से, पृथ्वी में उर्वरा रूप से और विनाश में दाहक रूप से रहता है।

इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति और दोषों के विनाश में अग्नि के चौदह स्वरूप होते हैं। तेरह प्रकार की अग्नियों की ज्योतियों से विश्व की उत्पत्ति और चौदहवीं अग्नि से विश्व के दोषों का नाश होता है। तेरह प्रकार की ज्योतियों से विश्व का पोषण, रक्षण और चौदहवीं दाहक शक्ति से विश्व के दोषों का दाह एवं विनाश होता है।

इस अध्याय में उस अग्नि का वर्णन किया जाता है, जिस में रूप आता है। अग्नि के सत, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं। उसके सत्वगुण से प्रकाश, रजोगुण से तेज और तमोगुण से दाहक शक्ति पैदा होती है।

सूर्य, चन्द्रमा में एक-सा प्रकाश होता है, किन्तु सूर्य के प्रकाश में तेज और चन्द्रमा के प्रकाश में शीत होता है।

इसलिए अग्नि के सत्त्वगुण में न तेज और न शीत, केवल प्रकाश आता है। प्रकाश में चेतना और चेतना में ज्ञान है। जब रात्रि के अन्धकार से प्राणीमात्र निद्रा के वशीभूत होकर अचेतन-से हो जाते हैं, तब प्रातःकाल सूर्य-प्रकाश के उदय होते ही वे स्वतः निद्रा से चेतन होकर जाग जाते हैं।

रात्रि के गाढ़े अन्धकार में जैसे सावन में अमावस्या की रात्रि का अन्धकार होता है, उसमें नेत्रों को सम-विषम तथा रंग-रूप का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, किन्तु प्रकाश के होते ही दिन में नेत्रों को ज्ञान प्राप्त होता है और जो जसा है, वह वैसा ही दिखाई देता है।

यदि रात्रि के गाढ़े अन्धकार में कोई मनुष्य बस्ती से दूर कहीं जाना चाहे तो उसको भय मालूम होता है, किन्तु यदि वह दिन में सूर्य के प्रकाश में उसी स्थान को जाना चाहे तो निर्भयतापूर्वक जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्धकार में अचेतना. अज्ञान और भय है, परन्तु प्रकाश में चेतना, ज्ञान और निर्भयता है।

अग्नि के रजोगुण से तेज उत्पन्न होता है। उससे विश्व का पोषण होता है। हम गेहूँ के आटे की रोटी खाते हैं और उससे हमारा पोषण होता है, किन्तु गेहूँ के जो बीज होते हैं, उनका पोषण तेज से होता है। इसी से वे धूप में सुखाये जाते हैं। उनके अन्दर रहने वाले पौधे, जो बोने पर

अंकुरित होते हैं, वे बीज के अन्दर तेज से ही पोषित होते हैं। उन्हीं की रक्षा के लिये गेहूँ या अन्य बीजों को धूप में सुखाते हैं।

जिस प्रकार रोटी के रूप में तेज हमारा पोषण करता है, उसी प्रकार समस्त विश्व का पोषण सूर्य्यादि अग्नियों के द्वारा तेज से होता है। जितने खाद्य पदार्थ खाए जाते हैं, उन सबसे शुक्र के रूप में हमें तेज और बल प्राप्त होता है।

जिस भांति दीपक का प्रकाश और तेज तेल पर अवलम्बित होता है, उसी प्रकार मनुष्यादि प्राणियों का जीवन शुक्र पर अवलम्बित होता है। शुक्र में अग्नि का सत्त्वगुण और तेज दोनों विद्यमान रहते हैं। इसलिए शुक्र के रक्षण से प्राणियों के शरीर में जीवनशक्ति, ज्ञानशक्ति, निर्भयशक्ति, तेज और बल प्राप्त होते हैं। शुक्र-वृद्धि के साथ ही इनकी भी वृद्धि होती है।

अग्नि के तमोगुण से दाहक शक्ति पैदा होती है, जो समस्त दूषित पदार्थों को भस्म करती है। इसलिए समस्त दूषित पदार्थों और तत्त्वों का नाश अग्नि के तमोगुण से होता है। दूषित पदार्थों और प्राणियों के अन्दर जो अग्नितत्त्व होता है, उसी के तमोगुण से उनका भी नाश हो जाता है। मनुष्यादि प्राणियों में ताप आदि सब प्रकार की पैदा होने वाली बीमारियाँ उसी के फलस्वरूप होती हैं, जिससे प्राणियों की मृत्यु होती है।

इसी तरह विश्व में समस्त दूषित प्राणियों और पदार्थों के अन्दर की अग्नियों के तमोगुण से उनका नाश होता है। समस्त दूषित पदार्थों और तत्वों को अग्नि का तमोगुण ही भस्म करके या सड़ा-गलाकर महातत्त्व में विभाजित करता है और महाप्रलय में समस्त विश्व के महा दूषित तत्त्वों और पिण्डों का विनाश करता है। इसी का नाम महाप्रकृति का उग्र तमो-गुण है।

जिस तरह अग्नि किसी पदार्थ को भस्म करने के पश्चात् अपने आप भी शान्त हो जाता है, उसी प्रकार महाप्रलय में महाअग्नि का तमोगुण समस्त विश्व के दूषित पदार्थों को भस्म करने के पश्चात् स्वयं ही शान्त होकर प्रकाश में विलीन हो जाता है।

जिस अग्नि में रूप आता है, विश्व की बनावट में उसकी दो प्रकार की गतियाँ होती हैं। वह अग्नि वायुतत्त्व से उत्पन्न होता है। इसलिए वायु के सदृश्य पहले वह अरूप अवस्था में समस्त आकाश में वायु की सीमा तक ठीक ऐसे ही फैला हुआ रहता है, जैसे अग्नि बुझकर उसके परिमाणु वायु में मिलने पर अरूप हो जाते हैं। अग्नि की उस अवस्था को बुझाना या अरूप अवस्था कह सकते हैं। अग्नि की उस अवस्था में रूप नहीं होता, किन्तु तेज होता है। जैसे गर्मियों की रात्रि के वायु में तेज होता है, जिससे मनुष्यादि प्राणियों के शरीर से पसीना

निकलता है, किन्तु उस में रूप नहीं होता। ठीक इसी तरह रूपवाली अग्नि के पहले वायु में अरूप तेजोमय अग्नि उत्पन्न होता है। उस तेजोमय-अग्नि को वायु अपनी तीव्र गति से आकाश में सर्वत्र घुमाता और फैलाता है। वायु की तरंगों के परस्पर मन्थन एवं संघर्षण से अग्नि के परमाणु एकत्रित होकर उसमें रूप उत्पन्न होता है। इस प्रकार अग्नि की उस अवस्था में रूप आता है।

हम पहले कह चुके हैं कि जैसे गर्मियों में तेजित वायु की तरंगों के संघर्षण से बिजली उत्पन्न होती है और उसमें रूप आता है, ठीक उसी तरह विश्व के आरम्भ में अग्नि में रूप पैदा होता है।

अग्नि-तत्त्व की जिस अवस्था में रूप उत्पन्न होता है अथवा जो अग्नि नेत्रों से देखा जाता है, उसके परमाणुओं का परस्पर योग होने से आकाश में प्रथम असंख्य छोटे-छोटे गोले बनते हैं। वे बहुत से गोले वायु के द्वारा एकत्रित होकर फिर अग्नि के बड़े-बड़े पिण्ड बनते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र आकाश में अग्नि के असंख्य पिण्ड बन जाते हैं। सब पिण्ड एक से नहीं होते, भिन्न-भिन्न प्रकार के कोई बड़े और कोई छोटे होते हैं।

जो जितने बड़े गोले बने, वे उतने ही बड़े ब्रह्माण्ड एवं पिण्डों के और जो जितने छोटे गोले बने, वे उतने ही छोटे ब्रह्माण्ड

एवं पिण्डों के सूर्य बने। इस भांति बड़े और छोटे ब्रह्माण्डों के बड़े और छोटे असंख्य सूर्य बने। सब सूर्य अपने-अपने पिण्ड और ब्रह्माण्डों में प्रकाश, चेतना और तेज डालने लगे।

हमारे ब्रह्माण्ड अथवा भूमण्डल का सूर्य अपने अत्यन्त तेज और बल के प्रभाव से अपने स्थान पर बड़ी तेजी से घूमता है, जिससे वह अपने समस्त ब्रह्माण्ड और हमारे भूमण्डल में सुगमता से चेतना, प्रकाश और तेज डाल सकता है।

हम पृथ्वी से सूर्य को जितना छोटा देखते हैं, वह उतना छोटा नहीं है। उसका विस्तार बहुत बड़ा है। वह पृथ्वी से बहुत दूर है, इसलिए हम उसको छोटा देखते हैं। वह पृथ्वी से कई गुना बड़ा है। उसका प्रकाश, चेतना और तेज पृथ्वी की जितनी दूरी तक पहुंचता है, उतनी ही दूरी तक उसके चारों ओर के पिण्डों में भी पहुंचता है। सूर्य अपने सब ओर के पिण्डों में जहां तक चेतना, प्रकाश और तेज डालता है, वह हमारा एक ब्रह्माण्ड है।

सूर्य में प्रकाश, चेतना और तेज होता है, उसमें दाहक शक्ति नहीं होती। जब सूर्य से तेज पृथ्वी में पहुंचता है, तब उस तेज से पृथ्वी में दाहक शक्ति पैदा होती है। सूर्य में अग्नि का तमोगुण नहीं के बराबर है, इसलिए वह चिरकाल तक एक ही स्वरूप में दिखाई देता है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का नाश करने वाला उसी का तमोगुण होता है।

पृथ्वी से जितना ऊपर सूर्य का तेज होता है, उतना ही उसमें दाहकता का अभाव होता है। पार्थव्य-तत्त्व से अग्नि में दाहक-शक्ति उत्पन्न होती है, जैसे ईंधन पाने से अग्नि में दाहक-शक्ति पैदा होती है। लकड़ी में भी जो पार्थव्य-तत्त्व है, उसी से अग्नि में दाहक-शक्ति पैदा होती है।

सूर्य की अग्नि से पृथ्वी में उष्ण-दाहक-शक्ति और चन्द्रमा की अग्नि से पृथ्वी में शीत-दाहक-शक्ति बनती है। सूर्य की अग्नि में चेतना, प्रकाश और तेज होता है तथा चन्द्रमा की अग्नि में रस, प्रकाश और शीत होता है।

सूर्य प्रतिदिन अपने प्रकाश, चेतना और तेज को अपने ब्रह्माण्ड के पिण्डों में डालता है और फिर उनके अधिकांश भाग को अपने में खींच लेता है, जिससे चिरकाल तक सूर्य के मान में अन्तर नहीं आता। इसी से प्रतिदिन सूर्य के प्रकाश, चेतना और तेज में न्यूनाधिकता ज्ञात नहीं होती। यदि सूर्य की गति इस प्रकार की न होती तो वह भी पृथ्वी की अग्नि की तरह थोड़े ही समय में बुझकर और विच्छिन्न होकर वायु में मिल जाता।

आकाश में सूर्यों के बनने के पश्चात् वायु में जितना शेष अरूप-अग्नि रहा, उसका अधिकांश भाग जल और पृथ्वी के स्वरूप में गया।

जल में व्याप्त हुआ अग्नि जल की द्रवावस्था बनाता है,

जल से भाप पैदा करता है और जल में रस उत्पन्न करता है। जल में अधिक अग्नि के मिलने से भाप बनकर मेघ बनता है। उससे न्यून अग्नि के मिलने से जल की द्रवावस्था बनकर उसमें रस उत्पन्न होता है और उससे भी न्यून अग्नि के मिलने से जल जमकर हिम बनता है।

यदि जल में अग्नि-तत्त्व सम्मिलित न होता तो जल की न द्रवावस्था बन सकती, न जल में रस उत्पन्न होता और न उससे भाप बनकर मेघ बन सकते।

पृथ्वी में व्याप्त हुए अग्नि से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति, पृथ्वी के गर्भ की अग्नि और मिट्टी, पत्थर, धातु आदि की अग्नि बनती है।

जल और पृथ्वी में अग्नि के सम्मिलित होने से उसका अभाव नहीं हो जाता, तब भी वायु में अरूप अग्नि विद्यमान रहता है, जिससे वायु की तरङ्गों के संघर्षण से आकाश में अग्नि के छोटे-छोटे गोले उत्पन्न होकर बिजली बनती है। बिजली के गोले भी सब एक से नहीं होते, कोई बड़े और कोई छोटे बनते हैं। कभी-कभी तो बिजली में अग्नि का रूप ही रूप बनता है, गोले नहीं बनते। बिजली के छोटे-बड़े गोले उत्पन्न होना वायु की तरङ्गों के संघर्षण पर निर्भर करता है।

जब बड़ी तेजी से वायु की तरङ्गों का संघर्षण होता है, तब बिजली के बड़े गोले बनकर पृथ्वी की ओर गिरते हैं

और पृथ्वी में गिरते ही वे विच्छिन्न होकर फिर वायु में मिल जाते हैं।

वायु की तरङ्गों के मध्यम संघर्षण से बिजली के छोटे गोले बनते हैं। वे आकाश से पृथ्वी तक नहीं पहुंच सकते, बीच ही में विच्छिन्न होकर वायु में मिल जाते हैं। वायु की तरङ्गों के सामान्य संघर्षण से आकाश में केवल बिजली का रूप ही रूप प्रकट होता है और वह शीघ्र ही विच्छिन्न होकर वायु में मिल जाता है।

इसी तरह जल और पृथ्वी-तत्त्व के अवयवों के संघर्षण से भी रूपवान अग्नि उत्पन्न होता है। जो अरूप अग्नि वायु, आकाश, जल और पृथ्वी आदि समस्त विश्व में व्याप्त रहता है, उसका एक अंश समस्त प्राणियों के शरीरों में विद्यमान रहता है। उसके सत्त्वगुण से प्राणियों के नेत्रों में प्रकाश, रजोगुण से जठराग्नि और तमोगुण से क्रोध उत्पन्न होता है।

जिस अग्नि से रूप उत्पन्न होता है, उसी से जल और पृथ्वी में भी रूप आता है। रूप केवल अग्नि, जल और पृथ्वी में आता है। वायु, आकाशादि तत्त्वों में रूप नहीं आता। इसलिए नेत्रों के प्रकाश से केवल अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्वों का ही ज्ञान हो सकता है, वायु, आकाशादि सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान नहीं हो सकता।

रूप वाले अग्नि के सत्त्व-गुण से प्राणियों के नेत्रों का प्रकाश उत्पन्न होता है. इसलिए उनसे केवल रूप वाली वस्तुओं का ही ज्ञान हो सकता है अथवा नेत्र केवल अग्नि, जल, पृथ्वी और इन तत्त्वों से बने हुए प्राणियों एवं वस्तुओं को ही देख सकते हैं। वे वायु आदि सूक्ष्म तत्त्वों को नहीं देख सकते।

नेत्र जब वायु और आकाश को भी नहीं देख सकते, तब उनसे भी सूक्ष्म और ऊपर जो शक्तियां हैं, उनको कैसे देख सकते हैं ? उनका दर्शन अथवा अनुभव तो केवल बुद्धि के शुद्ध प्रकाश से हो सकता है।

वायु में मिला हुआ अग्नि उसकी शान्त गति को तीव्र और तीव्र गति को शान्त करता है। वायु की तीव्र गति का अग्नि जब बिजली के रूप में निकल जाता है, तब उसकी गति शान्त हो जाती है और जब वायु तेजित होता है, तब उसकी गति तीव्र होती है। जल में मिला हुआ अग्नि उस में रूप, रस पैदा करता है और उस को द्रवित बनाता है।.

पृथ्वी के गर्भ का अग्नि पार्थिव्य परमाणुओं को संगठित रखता है, पृथ्वी का रूप बनाता है, समुद्र के जल को द्रवित रखता है, पृथ्वी के अन्दर के अनेक विषैले पदार्थों को भस्म करता है, समुद्र के जल को उस की सीमा से अधिक नहीं बढ़ने देता और बीजों को उगाता है।

अग्नि के सत्त्वगुण से विश्व में प्रकाश उत्पन्न होता है। प्रकाश से चेतना, ज्ञान और रूप उत्पन्न होते हैं। प्रकाश की विभिन्न न्यूनाधिक मात्राओं से प्रकृति में भिन्न-भिन्न सब प्रकार के रूप-रङ्ग पैदा होते हैं।

अग्नि के रजोगुण से तेज उत्पन्न होता है। समस्त विश्व का पोषण अग्नि के रजोगुणोद्भूत तेज से होता है और अग्नि के तमोगुण से दाह होता है।

शारीरिक अग्नि-तत्त्व के सतोगुण से प्राणियों के नेत्रों में प्रकाश और प्राणियों का रूप पैदा होता है, रजोगुण से जठराग्नि, पाचन-शक्ति और पोषण-शक्ति पैदा होती है तथा तमोगुण से क्रोध और ताप आदि बीमारियां उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार अग्नि-तत्त्व को विश्व का प्रकाश, रूप, तेज, पोषक, क्रोध और दाहक समझना चाहिए। अग्नि पुरुष है, इसलिए उस की क्रिया पुलिङ्ग में छोड़ी गई है।



अध्याय १४

●

महाजल

अग्नि के रजोगुण में पोषित-तमोगुण के कुछ बढ़ने पर कालान्तर में जल उत्पन्न होता है। अग्नि एवं सूर्यादि पिण्ड तेजोमय हैं। वे अपने तेज को आकाश एवं वायुमण्डल में डाल रहे हैं। वायु बलवान है। वह प्रत्येक पदार्थ को स्पर्श कर शोषता एवं सुखाता है। तेज के पोषण और सुखाने के योग से आकाश में सूक्ष्मता से रस उत्पन्न होता है, जो प्रथम भाप से भी सूक्ष्म होता है। जिस भांति गर्मियों के दिनों में समुद्र के जल को सूर्य का तेज और वायु का स्पर्श सूक्ष्मता से शोषकर आकाश में ले जाते हैं, जिसको हम देख भी नहीं सकते। किन्तु आकाश में शीत पाने से वह थोड़े ही समय में मेघों का स्वरूप धारण कर बरसा का जल बन जाता है। इसी भांति जल की उत्पत्ति के आरम्भ में रस भाप से भी सूक्ष्म पैदा होता है। कालान्तर में कुछ शीत पाने से वह भाप का स्वरूप धारण करता है। भाप के समूह को फिर कुछ अधिक शीत मिलने से मेघ के कण बनते हैं। मेघ-कणों के परस्पर मिलने से जल की बूंदें बनती हैं और उनमें द्रवत्व अथवा गीलापन आ जाता है।

बहुत से जल के आपस में मिलने से आकाश में मंगल आदि बहुत से जल के पिण्ड बन जाते हैं। आकाश की धारण-शक्ति उनको आकाश में धारण करती है। वायु के वेग से वे गतिमय हो जाते हैं और सूर्यों के आकर्षण से उनकी ओर आकर्षित होते हैं। सूर्यों के तेज और प्रकाश से जल के पिण्ड आकाश में सूर्यों की भांति चमकते हैं।

जिस प्रकार किसी तालाब में सूर्य का प्रकाश पड़ने से उसमें सूर्य का प्रतिविम्ब चमकता है, उसी प्रकार आकाश में सूर्यों के प्रकाश से जल के पिण्ड भी तारों के रूप में चमकते हैं। जिन तारों को हम पृथ्वी से देखते हैं, वे सभी अग्नि के पिण्ड नहीं हैं। उनमें बहुत से जल के पिण्ड हैं, जो सूर्य के प्रकाश से आकाश में चमकते हुए दिखाई देते हैं। जिन तारों को हम पृथ्वी से छोटे-छोटे देखते हैं, वे उतने छोटे नहीं हैं, वे बड़े-बड़े पिण्ड हैं। उनमें बहुत से अग्नि के और बहुत से जल के पिण्ड हैं।

जल के सत्त्व, रज, तम त्रिगुण भेद होते हैं। जल के सत्त्वगुण से रस, रजोगुण से द्रव और तमोगुण से भाप बनती है।

रस न भाप होता है और न द्रव। रस गीलेपन के अभाव में भी रहता है, जैसे सूखे फलों में गीलापन नहीं होता, परन्तु रस रहता है। रस गीलेपन में भी होता है। रस की

उत्पत्ति जल के बिना नहीं हो सकती, जैसे फलों में पैदा होने वाले रस वृक्षों के गीलेपन के बिना नहीं हो सकते। सूखे फलों के रस भी रसना के गीलेपन के बिना ज्ञात नहीं हो सकते। जल की सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्था रस ही है। जल तेज से उत्पन्न होता है, इसलिए रस तेज में भी रह सकता है, जैसे सूखे फलों में बताया गया है। सूखे फलों में जो तेज होता है, उसी से उनके रस सुरक्षित रहते हैं।

जितने भी रस होते हैं, उनकी उपज जलतत्त्व के सत्त्वगुण से होती है। जल के सत्त्वगुण और अग्नि के सत्त्वगुण से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है अर्थात् रस और प्रकाश के योग से चन्द्रमा बनता है। चन्द्रमा की बनावट में जल से जो रस जाता है, उसको सोमरस कहते हैं। चन्द्रमा से उसका कुछ भाग वनस्पतियों में उतरता है।

जिस प्रकार वायु चन्द्रमा के प्रकाश को पृथ्वी पर बिखेरता है, उसी प्रकार वह चन्द्रमा से सोमरस को सूक्ष्मता से शोषकर तेज, जल और पृथ्वी को प्रदान करता है और उनके द्वारा वह वनस्पतियों को प्राप्त होता है। सोमरस वनस्पतियों में उतरने से मीठा, खट्टा, खारा कड़वा, चरपरा, तिक्त आदि समस्त रसों में विभाजित हो जाता है।

वनस्पतियों की उत्पत्ति चन्द्रमा के पराग केशर और पृथ्वी की गर्म केशर से होती है। इसलिए बीज के पराग में जैसे

स्वादयुक्त रस होता है, वह वैसे ही रस को वायु, तेज, जल, पृथ्वी और चन्द्रमा से ग्रहण करता है।

हम पहले कह चुके हैं कि प्रथम जल से रस की उत्पत्ति होती है। वह चन्द्रमा में पहुंच कर सोमरस बनता है और वनस्पतियों में उतर कर मीठे, खट्टे, खारे, कड़वे, तिक्त और चरपरे आदि अनेक रसों के भेद में विभाजित होता है।

मनुष्यादि प्राणियों के शारीरिक जलतत्त्व के सत्त्वगुण से उन की रसना बनती है, इसीलिए प्राणियों को रसों का ज्ञान रसना के द्वारा होता है।

जिस प्रकार चन्द्रमा में सोमरस होता है, जो वनस्पतियों में उतर कर अनेक रसों के भेद में विभाजित हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों की रमना में भो सोमरस होता है, जिससे रसना में समस्त रसों की ज्ञान-शक्ति होती है और रसना को पृथक्-पृथक् रसों का ज्ञान होता है। सोमरस से ही प्राणियों का पोषण होता है।

जल की उत्पत्ति के आरम्भ में रस कालान्तर में द्रवित होता है और वायु से उसकी गति बनती है। हम पहिले कह चुके हैं कि जल की उत्पत्ति के प्रथम तेज से रस उत्पन्न होता है, जिसको वायु अपनी गति से आकाश में सर्वत्र फैला देता है। कालान्तर में उसमें कुछ शीत आने से मेघ के अणु बनते हैं। वे वायु की गति से एकत्रित होकर आकाश में मेघों के झुण्ड

बनते हैं। फिर वायु की तरङ्गों के संघर्षण से आपस में मिलकर मेघ से जल की बूँदें बन जाती हैं। जल की बूंदें भी वायु की तरङ्गों के संघर्षण से आपस में मिल जाती हैं और उनसे जल के पिण्ड बन जाते हैं। इस प्रकार आकाश में जल के असंख्य पिण्ड बनते हैं। हमारी पृथ्वी भी उस काल में जल के ही स्वरूप में थी और वह फिर धीरे-धीरे कालान्तर में खुश्की का रूप धारण करती है। पिण्डों के बनने के पश्चात् वायु में जितनी शेष भाप रहती है, उससे मेघ बनते हैं। वायु की तरङ्गों की टक्करों से उनका जल छोटी-छोटी बूंदें बनकर वर्षा होती है। वर्षा का पानी स्थूल रूप धारण करने से आकाश में नहीं ठहर सकता और पृथ्वी में बरसता है।

वर्षा का जल पृथ्वी पर पड़ने से उसके कुछ अंश को पृथ्वी शोष लेती है। उस शोषे हुए जल का कुछ अंश पृथ्वी के अन्दर समाता है। वहाँ अधिक संयुक्त होने पर वह धारा-रूप में प्रवाहित होता हुआ बाहर स्रोतों के रूप में बहता है, जिन के योग से नदियाँ बनती हैं।

मेघों का जो जल पृथ्वी की ऊपरी सतह पर बहता है, वह भी अधिक संयुक्त होकर धारा और नदियों के रूप में बहता है।

मेघों के बरसने के समय पृथ्वी की ऊपरी सतह में जल की बहुत-सी बूंदें संयुक्त होकर उनमें बहने की गति आती है।

बहुत-से जल के संयुक्त होने पर धारायें बनती हैं और बहुत-सी धाराओं के योग से नदियाँ बनती हैं।

मेघों का जो जल पृथ्वी में समाता है, वह भी पृथ्वी के अन्दर इसी तरह संयुक्त होकर धारा और नदियों के रूप में प्रवाहित होता है। पृथ्वी की ऊपरी सतह के जल को वायु शीघ्र शोषकर सुखा देता है, किन्तु पृथ्वी के अन्दर का पानी इतना शीघ्र नहीं सूखता।

पृथ्वी के अन्दर जहाँ ऐसी बनावट होती है, जिसमें शोषक-वायु असर नहीं कर सकता, उन भागों का जल वायु नहीं शोष सकता या बहुत कम शोष सकता है। इसीलिए पृथ्वी के गर्भ के उन हिस्सों का पानी नहीं सूखता। वहाँ जल की धारायें और नदियां बराबर प्रवाहित होती रहती हैं।

पृथ्वी के गर्भ के जिन भागों में वायु घुसकर जल शोष लेता है, उन भागों का पानी सूख जाता है। इसलिए भूगर्भ के उन भागों में जल की धारायें और नदियाँ बराबर प्रवाहित नहीं रह सकतीं।

धारा और नदियों का जल वायु और पृथ्वी के आकर्षण से प्रवाहित होता है। जल में मिला हुआ वायु उसको धकेलता है और पृथ्वी का आकर्षण उसको अपने ढलान की ओर खींचता है। इसलिए जहाँ पृथ्वी का बहुत ढलवाँ हिस्सा होता है, वहाँ जल तीव्र गति से बहता है, क्योंकि वहां पृथ्वी का आकर्षण उस जल को नीचे की ओर जोर से खींचता है।

पृथ्वी जहाँ ढलवाँ अथवा सम होती है, वहाँ के जल को पृथ्वी का आकर्षण रोकता है। किन्तु जल के न्यून भाग में पृथ्वी का कम आकर्षण पड़ता है और जल में मिला हुआ वायु उसको धकेलता रहता है। पृथ्वी के आकर्षण से ही जल पृथ्वी की ढलान की ओर बहता है, ऊपर की ओर नहीं बह सकता, क्योंकि पृथ्वी का आकर्षण प्रत्येक वस्तु को नीचे की ओर खींचता है। यह उसका अटल नियम है।

तालाब और झीलों के जल पर धारा और नदियों के जल से पृथ्वी का अधिक आकर्षण पड़ता है। इसलिए उनकी बहने की गति रुक जाती है, किन्तु उनका जल समुद्र के जल की तरह नहीं रुकता। वह धारा और नदियों के रूप में भी बहता रहता है, जिससे तालाब और झीलों का जल ठहरा हुआ भी रहता है और प्रवाहित भी होता है।

समुद्र का जल इतना अधिक है कि वह पृथ्वी की ऊपरी सतह के तीन भागों में फैला हुआ है। इसलिए समुद्र के जल पर पृथ्वी का तीन चौथाई आकर्षण पड़ता है। उस भारी आकर्षण से समुद्र के जल की प्रवाह-गति रुक जाती है जिससे समुद्र का जल थमा हुआ रहता है।

धारा, नदियों और मेघों का जल प्रवाहित होकर समुद्र में थमता है। जिस भांति धारा और नदियों का जल प्रवाहित होकर पृथ्वी में घूमता है, यदि उसी भांति समुद्र का जल

प्रवाहित होकर पृथ्वी में घूमता तो पृथ्वी समुद्र के जल से जलाकार हो जाती और उसमें जलचर जीवों के सिवाय स्थलचर कोई भी जीव न रह सकता।

जब जल का कम हिस्सा धारा और नदियों के रूप में होता है, तब वह अपने मार्ग में बहकर पृथ्वी में घूमता है और जब जल का बहुत बड़ा हिस्सा समुद्र के रूप में संयुक्त होता है, तब थमकर उसकी गति रुक जाती है। परमात्मा का क्या ही अच्छा प्रबन्ध है!

इसका कारण यह है कि धारा और नदियों का जल कम होने से उनमें पृथ्वी का आकर्षण कम पड़ता है। इसलिए धारा और नदियों के जल में मिला हुआ वायु जल को पृथ्वी के ढाल की ओर प्रवाहित करता रहता है। किन्तु समुद्र के जल पर पृथ्वी का भारी आकर्षण पड़ता है, जिससे वह थम जाता है।

यद्यपि समुद्र के जल की प्रवाहित गति पृथ्वी के आकर्षण से थम जाती है तथापि जल में मिला हुआ वायु समुद्र के जल को धकेलता रहता है, जिससे समुद्र में तूफान और जल की तरंगें उठती रहती हैं।

वायु के अतिरिक्त जल पर चन्द्रमा का भी आकर्षण पड़ता है। शुक्लपक्ष के चन्द्रबिम्बों में जैसे-जैसे प्रकाश-कलाएँ बढ़ती हैं वैसे-वैसे जल में रस की वृद्धि होती है। शुक्लपक्ष की प्रत्येक तिथि के चन्द्रबिम्ब में प्रकाश-कलाओं की वृद्धि के सम्बन्ध से

समुद्र का जल बढ़ता रहता है। पूर्णमासी को जब चन्द्रबिम्ब पूर्ण प्रकाशित हो जाता है, तब समुद्र का जल भी ज्वार के रूप में पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् चढ़ाव की अन्तिम सीमा पर पहुँचता है।

शुक्लपक्ष में चन्द्रबिम्ब पर प्रकाश की वृद्धि होने से उसका आकर्षण भी जल पर अधिक पड़ता है। उससे भी समुद्र का जल ऊपर को उठता है। इन्हीं दो कारणों से ज्वार होते हैं। किन्तु कृष्णपक्ष में पूर्णमासी से अमावास्या तक जैसे-जैसे चन्द्रबिम्बों पर प्रकाश-कलाएँ न्यून होती जाती हैं, वैसे ही वैसे समुद्र के जल में उस रस की भी न्यूनता होती रहती है, जो उसको चन्द्रमा से प्राप्त होता है। उस पक्ष में चन्द्र-बिम्ब पर प्रकाश-कलाओं की न्यूनता से उसका आकर्षण भी जल पर कम पड़ता है। उस पक्ष में समुद्र के जल पर चन्द्रमा के आकर्षण से पृथ्वी का आकर्षण अधिक बढ़ जाता है, जिससे समुद्र का जल पृथ्वी की नीची सतह की ओर सिकुड़ता है। इन दोनों कारणों से कृष्णपक्ष की प्रत्येक तिथि के सम्बन्ध से समुद्र का जल भाटे के रूप में उतरता है और अमावास्या को भाटे की अन्तिम सीमा पर उतर जाता है।

इन्हीं कारणों से चन्द्रमा के शुक्ल और कृष्णपक्ष की तिथियों के सम्बन्ध से समुद्र में बराबर जल का चढ़ाव और उतराव होता रहता है अर्थात् ज्वार और भाटे होते रहते हैं।

समुद्र के अतिरिक्त सारे जल तत्व पर चन्द्रमा का

यह प्रभाव बराबर पड़ता रहता है, किन्तु नदी और तालाब आदि जल के जो जितने न्यून भाग होते हैं, उन पर उतना ही कम प्रभाव पड़ता है। इसलिए हमें समुद्र के ज्वार-भाटे की भांति उनके ज्वार-भाटे का ज्ञान नहीं हो सकता।

समुद्र का जल खुश्की के अन्दर भी फैला हुआ रहता है। कुओं का पानी समुद्र का वही फैला हुआ जल है। यदि पृथ्वी की ऊपरी सतह के जल को वायु शोषकर वायुमण्डल में न ले जाता तो समुद्र के जल से पृथ्वी की ऊपरी सतह भी कुओं की सतह की भांति बिलकुल गीली बनी रहती।

समुद्र के नीचे पृथ्वी का अधिक अग्नि-तत्त्व रहता है। उसी से समुद्र के जल की द्रवावस्था बनी रहती है, नहीं तो समुद्र का जल पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों और हिमालय पहाड़ के जल की भांति जमकर हिम बना रहता।

समुद्र के नीचे पृथ्वी के गर्भ में जो बड़वाग्नि होता है, वह समुद्र के जल की द्रव अवस्था बनाने के अतिरिक्त समुद्र के जल से भाप बनाकर मेघों को पैदा करता है। जब वायु जल को सूक्ष्म रूप से भाप द्वारा शोषकर आकाश में ले जाता है, तब वहां उस पर पृथ्वी का आकर्षण पड़ता है। इसलिए मेघों का जल आकाश के अन्य पिण्डों में नहीं पहुंच सकता। पृथ्वी का आकर्षण उसको पृथ्वी के ऊपर खींच लेता है, जिससे मेघों का जल वर्षा के रूप में पृथ्वी के ऊपर बरसता है।

नदियों, धाराओं और मेघों के जल पर पृथ्वी का आकर्षण क्रमशः कम पड़ता है। मेघों के कण बहुत छोटे होने के कारण उन पर पृथ्वी का बहुत कम आकर्षण पड़ता है। इसलिए मेघों के कणों को वायु पृथ्वी से आकाश तक पहुंचाता है और ज्यों ही उनके योग से आकाश में पानी की बूंदें बनती हैं, त्यों ही आकर्षण उनको आकाश से पृथ्वी पर खींच लेता है। आकाशस्थ मेघों के समूह को पृथ्वी का आकर्षण नीचे की ओर खींचे रहता है, इसलिए वे आकाश से अन्य पिण्डों में नहीं पहुंच सकते।

धारा और नदियों के जल को भी पृथ्वी का आकर्षण पृथ्वी की ओर खींचे हुए रहता है, किन्तु पृथ्वी के सम न होने के कारण उनका जल पृथ्वी के ढलान की ओर बहता रहता है। उनकी प्रवाहित गति रोकने के लिए उनके जल पर पृथ्वी का अधिक आकर्षण नहीं पड़ता, क्योंकि वे जल के बहुत न्यून भाग हैं। समुद्र के जल का विस्तार बहुत बड़ा है, इसलिए उस पर पृथ्वी का बहुत बड़ा आकर्षण पड़ता है, जिससे समुद्र की प्रवाह-गति रुक जाती है।

पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों और हिमालय पहाड़ का जल जमकर हिम बन जाता है, क्योंकि पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी छोरों तक पृथ्वी के गर्भ की गर्मी कम पहुंचती है। हिमालय पहाड़ पृथ्वी की सतह से बहुत ऊँचा होने के कारण उसमें भी पृथ्वी के गर्भ की गर्मी कम पहुंचती है, इसलिए उन

स्थानों का जल जमकर हिम बन जाता है। वहाँ का वायुमण्डल भी ठण्डे स्थानों को स्पर्श कर ठण्डा बना रहता है, जिससे वहाँ के मेघों का जल जमकर वायुमण्डल से ही हिम बनकर बरसता है। जल में गर्मी की न्यूनता से उसके कण जमकर हिम वन जाते हैं। पाला भी इसी भांति बनता है।

जाड़ों में रात्रि को पृथ्वी की ऊपरी सतह में गर्मी की न्यूनता होने से अधिक ठण्ड हो जाती है। उस मौसम में रात्रि को पृथ्वी का वायुमण्डल पृथ्वी को स्पर्श कर ठण्डा हो जाता है, इसलिए वायु में मिली हुई भाप जमकर पृथ्वी पर पड़ने से पाला बन जाता है और पृथ्वी पर उस पाले को कुछ गर्मी मिलने से वह पिघलकर ओस बनता है।

दिन में सूर्य की गर्मी के कारण पाला और ओस सूखकर भाप द्वारा वायुमण्डल में मिल जाते हैं, परन्तु पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों और हिमालय पहाड़ पर गर्मियों में भी ठण्ड बनी रहती है, इसलिए वहाँ जल जमकर सदा हिम बना रहता है।

गर्मियों में सूर्य की गर्मी के कारण उन स्थानों का कुछ हिम पिघलकर धारा और नदियों के रूप में बहता है। उसी समय उन स्थानों में जल पृथ्वी के अन्दर भी समाता है, जिससे वहाँ नित्य बहने वाली जल की धाराओं और नदियों की प्रवाह-गति बनी रहती है। प्रायः हिम के स्थान बहुत कड़े पहाड़ों जैसे बने रहते हैं।

उस प्रबन्धकर्त्ता परमात्मा ने जलचर जीवों के लिए समुद्र बनाये और उनके सुख-आनन्द के लिए समुद्र को स्थिर बनाया है। स्थलचर जीवधारियों के जल-सम्बन्धी कार्यों के लिए जल की धारायें, नदियाँ, कुंए और वनस्पतियों के लिए मेघ बनाये हैं।

जलचर जीवों की सुख-शान्ति के लिए समुद्र नित्य अपनी एक मर्यादा पर स्थिर है। यदि समुद्र का जल कभी अधिक बढ़ जाता और कभी बिलकुल घट जाता तो जलचर जीवधारी नष्ट हो जाते और उनकी सुख-शान्ति भी जाती रहती। अनन्त जलचर जीवधारी ऐसे हैं जो एक पल भी बिना जल के नहीं रह सकते, इसीलिए समुद्र अगाध बनाये गये हैं।

जिस भांति धाराओं और नदियों का पानी घटता और बढ़ता है, उसी भांति बिलकुल सूख जाता तो स्थलचर जीवधारी, जो समुद्र से बहुत दूर रहते हैं, जल के बिना मर जाते। इसलिए धारा और नदियों का पानी बराबर प्रवाहित होता रहता है।

स्थलचर जीवधारियों को हर समय पानी की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी जलचर जीवधारियों को होती है। उनको दिन भर में पाँच या छः बार पानी पीने की आवश्यकता पड़ती है। वे धारा, नदियों और कुओं में जाकर अपनी जल-सम्बन्धी आवश्यकता पूरी कर लेते हैं। इसलिए संसार-हित के लिए धाराओं और नदियों के जल की नित्य प्रवाह-गति बनी रहती है।

वनस्पतियों को भी हमारी तरह पानी की आवश्यकता होती है। परन्तु वे अचर हैं। वे मनुष्य, गाय, भैंस, चिड़ियों की भांति धाराओं, नदियों या कुओं पर जाकर जल नहीं ले सकतीं। इसलिए जल उनके हित के लिए मेघ बनता है। मेघ वर्षा द्वारा वनस्पतियों को उनके स्थान पर ही जल पहुंचाता है अथवा जल वनस्पतियों के हित के लिए मेघ बनकर बरसता है।

हमारी तरह वनस्पतियों को हर समय जल की आवश्यकता नहीं होती। वे एक वार की वर्षा से एक या दो माह तक अपना निर्वाह कर सकती हैं। बड़े-बड़े वृक्ष अपनी जड़ों से पृथ्वी के अन्दर का पानी भी लेते हैं। इसलिए मेघों को वनस्पतियों के लिए नित्य बरसने की आवश्यकता नहीं होती। वे समय-समय पर बरसते हैं। मेघों के बरसने से धाराओं और नदियों के पानी की कमी भी पूरी हो जाती है। छोटे-छोटे जन्तु भाप से जल को ले सकते हैं। इसलिए जल नित्य संसार-हित के लिये समुद्र, भाप, मेघ, वर्षा, धारा, नदी और कुओं के चक्र में घूमता रहता है।

बेल-वृक्षों के अवयवों में पृथ्वी से जो रस पहुंचता है, उसमें अधिकतर जल का अंश होता है। मनुष्य आदि समस्त प्राणियों के शरीर में जो रस, रुधिर, पसीना और मूत्र होते हैं, वे सब जलतत्त्व के अंश हैं। शरीर में मांस अथवा अवयवों में गीलापन जलतत्त्व से होता है।

जिस भांति विश्व के अन्दर जल भ्रमण कर रहा है, उसी भांति हमारे शरीर के अवयवों में रुधिर, रस के रूप में, नाड़ियों में बराबर भ्रमण करता है। उसकी गति शरीर में एक पल भी नहीं रुकती। शारीरिक जल के सत्त्वगुण से जिह्वा में रस, रजोगुण से लिङ्ग और तमोगुण से आलस्य उत्पन्न होता है।

जिस जल को मनुष्य, गाय, भैंस आदि प्राणी पीते या प्रयोग करते हैं, उसके सत्त्वगुण-अंश से रसना का रस, रजोगुण से रुधिर तथा शरीर का गीलापन और तमोगुण से मूत्र, पसीना और आलस्य पैदा होता है।

महाजल उत्पन्न होने के आरम्भ में तेज में पोषित-तमोगुण के बढ़ने से रस, रस में रजोगुण होने से द्रव अथवा गीलापन और द्रव में तमोगुण आने से भाप बनती है। इस भांति जल बनता है।

जल के सत्त्वगुण से सृष्टि के रस, रजोगुण से द्रव तथा सृष्टि का गीलापन और तमोगुण से भाप बनती है। जल में रस गुण और द्रव शक्ति होती है। जल के रस, द्रव और भाप तीन भेद होते हैं।

अध्याय १५

पृथ्वी-तत्त्व की विवेचना

जल में कुछ अधिक पोषित-तमोगुण के बढ़ने पर पृथ्वी-तत्त्व उत्पन्न होता है। पृथ्वी आरम्भ काल में बहुत गर्म जल का पिण्ड थी, क्योंकि जल तेज से उत्पन्न होता है। पृथ्वी आद्य-काल में जब उष्ण-जलाकार थी, तब वायु के प्रबल धक्कों से उसकी तरङ्गें पहाड़ों की तरह ऊँची और नीची उठती थीं। इस प्रकार पृथ्वी अनन्तकाल तक उष्ण-जलाकार तरङ्गों से युक्त रहती है। उसके पश्चात् पृथ्वी की ऊपरी सतह के उष्ण जल की गर्मी वायु के प्रबल धक्कों से धीरे-धीरे शिथिल होती है, जिससे वह जल गर्म जल की अपेक्षा कुछ गाढ़ा बनता है। इस क्रम से चिरकाल में कुछ अधिक शीत के कारण जल की तरङ्गों की ऊँची-नीची और सम सतहें धीरे-धीरे हिम की तरह जमती हैं, जैसे दूध धीरे-धीरे जमकर दही बनता है।

पृथ्वी की ऊपरी सतह के कई भागों में जल जमकर हिम बन जाता है। उस के ठोस परमाणुओं का बहुत काल पश्चात् धीरे-धीरे रूपान्तर होकर कीचड़ बनता है। कीचड़ के बनते ही उसमें गन्ध उत्पन्न होती है। इस प्रकार जलाकार पृथ्वी की

सबसे ऊँची तरङ्गों का उष्ण जल प्रथम वायु के प्रबल धक्कों से धीरे-धीरे शिथिल होकर जमता है। उससे धीरे-धीरे कीचड़ बनता है। कीचड़ में गन्ध पैदा होती है। वह भी धीरे-धीरे कालान्तर में सूखकर खुश्क बनता है। इस तरह पृथ्वी-तत्त्व अथवा मिट्टी के अणु उत्पन्न होते हैं।

जलाकार पृथ्वी की सबसे ऊँची तरङ्गें जो पहले जमकर हिम का पहाड़ बनी हैं, वह हिमालय पहाड़ है। उसी में सबसे प्रथम पृथ्वी-तत्त्व बनता है। उसके पश्चात् जलाकार पृथ्वी में जो अन्य ऊँची-नीची और सम तरङ्गें उठीं, वे भी धीरे-धीरे खुश्की के रूप में ऊँचे-नीचे पहाड़ और सम-भूमि बनीं। इस प्रकार पृथ्वी में ऊँचे पहाड़, नीची घाटियां और समतल भूमि उत्पन्न हुई।

पृथ्वी का रङ्ग प्रथम सफेद होता है और धीरे-धीरे कालान्तर में वह परिवर्तित होकर गेहुँआ रङ्ग धारण करती है। पृथ्वी का अग्नि जो प्रथम जल में सम्मिलित रहता है, वह धीरे-धीरे पृथ्वी के गर्भ में घुसकर उसके अन्दर सुरक्षित हो जाता है, जैसे राख के बीच अग्नि सुरक्षित होता है।

पृथ्वी की नीची सतहों में जो जल रह जाता है, वह पृथ्वी के गर्भ की अग्नि से जम नहीं सकता; क्योंकि पृथ्वी के गर्भ की अग्नि से वह द्रवित बना रहता है। उस जल से पृथ्वी में समुद्र बने हैं।

पृथ्वी में जो बहुत ऊँचे पहाड़ बने उनमें जल जमकर हिम बना रहता है; क्योंकि उनकी ऊँचाई तक पृथ्वी के गर्भ की अग्नि अधिक नहीं पहुंच सकती, अतः वहाँ का जल जमकर हिम बनता है।

यह पृथ्वी-पिण्ड जल, अग्नि, वायु और मिट्टी के संयोग से मिश्रित है और आकाश इसको धारण किये हुए है। जिस पिण्ड पर हम रहते हैं, इसी का नाम पृथ्वी है। यह छोटे-छोटे परमाणुओं के समूह से बनी है। वे परमाणु एक ही जाति के नहीं हैं। उनमें से कुछ जल के परमाणु हैं, जिनके संयोग से समुद्र एवं पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों और हिमालय पहाड़ का हिम बना है।

कुछ अग्नि के परमाणु हैं, जिनके योग से पृथ्वी के अन्दर का अग्नि बना है। कुछ वायु के परमाणु हैं, जिनसे पृथ्वी का वायु-मण्डल बना है। कुछ मिट्टी के परमाणु हैं, जिनके संयोग से खुश्की बनी है। इन सब तत्त्वों के परमाणुओं के मेल से यह विस्तृत पृथ्वी बनी है। पृथ्वी बनने में इन सब तत्त्वों का सम्बन्ध इस प्रकार है—पांच भाग जल के, तीन भाग अग्नि के, उनपचास भाग वायु के और बारह भाग खुश्की के हैं।

तीन भाग जल से समुद्र बने हैं, एक भाग जल से पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों और हिमालय पहाड़ का हिम बना है तथा एक भाग जल नित्य पृथ्वी के वायुमण्डल में मिला हुआ रहता है।

अग्नि का एक भाग पृथ्वी के गर्भ में है, जो कभी-कभी ज्वालामुखी के रूप में उभरता है। एक भाग अग्नि छिपे रूप से मिट्टी, पहाड़ों में और एक भाग जल के सब भागों में सम्मिलित रहता है।

वायु के पाँच भाग जल में, तीन भाग अग्नि में, बारह भाग ख़ुश्की में और २६ भाग पृथ्वी के सब ओर बाहर फैले हुए रहते हैं।

ख़ुश्की का एक भाग पृथ्वी की बाहरी सतह है, जिस पर स्थलचर जीवधारी बसते हैं और वनस्पतियां उगती हैं। दस भाग ख़ुश्की में जल भरा है और एक भाग ख़ुश्की में अग्नि टिका हुआ है।

पृथ्वी-पिण्ड की ऊपरी सतह के चार भाग जल से आच्छादित हैं, तीन भाग में समुद्र हैं और एक हिस्से में उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों व हिमालय पहाड़ का हिम है।

समुद्र का जल ख़ुश्की के आधार पर थमा है। पृथ्वी की ऊपरी सतह की तरह समुद्र के अन्दर भी सम भूमि व ऊँचे-नीचे पहाड़ होते हैं, उन्हीं में समुद्रों का जल थमा हुआ है। वह ठीक इस तरह से है जैसे तालाब का जल तालाब की भूमि से थमा हुआ रहता है।

समुद्र का जल ख़ुश्की में भी सम्मिलित रहता है। वह हर समय ख़ुश्की को गीला बनाये रहता है। पृथ्वी की ऊपरी सतह का पानी वायु और सूर्य के तेज शोषकर पृथ्वी से बारह

ले जाते हैं। इसलिए पृथ्वी की ऊपरी सतह गीली नहीं होती। बाकी पृथ्वी के अन्दर गीलापन रहता है अथवा पृथ्वी के अन्दर की खुश्की से जल मिला हुआ रहता है।

कुओं का जल वही समुद्र का जल है। कुओं का पानी प्रायः समुद्र के पानी की तरह खारा या कड़वा नहीं होता, इसलिए कि मिट्टी अपने अन्दर के पानी को शोधकर शुद्ध और स्वच्छ बना देती है।

यदि पृथ्वी की ऊपरी सतह का पानी वायु और सूर्य का तेज न शोष लेते तो कुओं की सतह की तरह पृथ्वी की ऊपरी सतह भी बिलकुल गीली बनी होती। नदियों का जल भी पृथ्वी के अन्दर का जल है।

पृथ्वी की ऊपरी सतह का पानी वायु शोपकर भाप द्वारा वायु-मण्डल में ले जाता है। भाप के समूह से बादल बनते हैं। बादलों के परमाणुओं के परस्पर मिलने से पानी की बूंदें बनती हैं और वे वर्षा के रूप में पृथ्वी पर बरसती हैं।

सूर्य की गर्मी के अतिरिक्त पृथ्वी के गर्भ में भी अग्नि है। ज्वालामुखी उसी अग्नि से उभरते हैं। उस अग्नि से पृथ्वी को बड़ा भारी लाभ होता है। यदि पृथ्वी के अन्दर अग्नि न होता तो समुद्र और नदियों का जल हिमालय पहाड़ के हिम की भांति जमकर हिम बना रहता और तमाम जीव-जन्तु एवं वनस्पतियों के जल-सम्बन्धी कार्य बन्द हो जाते।

समुद्र की द्रवावस्था. मेघों का बनना और नदियों का बहाव,—जल के ये सब कार्य पृथ्वी के अन्दर की अग्नि से होते रहते हैं। पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों और हिमालय पहाड़ में इस कारण पानी जमकर हिम बन जाता है कि पृथ्वी के गर्भ की गर्मी उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों तक कम पहुँचती है। इसलिए वहां का पानी जमकर हिम बना रहता है। हिमालय पहाड़ पृथ्वी की सतह से बहुत ऊँचा है, जिस से पृथ्वी के अन्दर की गर्मी वहाँ तक अधिक नहीं पहुँच सकती। इसलिए वहां सूर्य की गर्मी पहुँचने पर भी जल जमकर हिम बन जाता है।

पृथ्वी के हिमाच्छादित स्थानों का हिम बनना उतना सूर्य की गर्मी पर निर्भर नहीं, जितना कि पृथ्वी की गर्मी की न्यूनता पर निर्भर है।

समुद्र से मेघों के बनने में पृथ्वी के अन्दर की गर्मी बड़ा कार्य करती है। जाड़ों में सूर्य की गर्मी कम होने पर भी मेघ बनकर बरसते हैं। इसका यही कारण है कि पृथ्वी के अन्दर की गर्मी समुद्र से मेघ बनाने का कार्य करती रहती है।

नदियों का बहाव भी पृथ्वी के अन्दर की गर्मी से होता है। यदि पृथ्वी के अन्दर की गर्मी पानी को पिघलाकर द्रव न बनाती तो गंगा आदि नदियाँ हिमालय से निकलकर समुद्र तक न पहुँचती अथवा हिमालय पहाड़ के हिम की भांति एक

ही स्थान में जमकर रह जातीं और अन्य स्थानों में जाने से नदियों का बहाव बन्द हो जाता।

अग्नि का एक भाग मिट्टी, पहाड़, सोना, चाँदी, तांबा, लोहा आदि ठोस पदार्थों के परमाणुओं में मिला हुआ रहता है। मिट्टी में मिला हुआ अग्नि वनस्पतियों को पैदा करने वाली उर्वरा शक्ति पैदा करता है, पेड़-पौधों को पुष्ट करता है और उन में पत्ते, पुष्प तथा फलों की पुष्टि करता है।

मिट्टी के परमाणुओं से अग्नि का संयोग न होता तो पृथ्वी में कुछ भी पैदा न होता, न पृथ्वी मेघों के जल को अपनी ओर खींच सकती, न पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति होती और न वनस्पतियाँ जीवित रह सकतीं। पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों और हिमाच्छादित पहाड़ों में इसी से कुछ पैदा नहीं होता कि वहां की मिट्टी के परमाणुओं में अग्नि की न्यूनता होती है।

मिट्टी में मिले हुए अग्नि के कारण ही पहाड़, सोना, चांदी, तांबा, लोहा आदि बनते हैं।

अधिक गर्मी से मिट्टी के परमाणु परस्पर विशेष मिलने से पहाड़ बनते हैं। जैसे गीली मिट्टी को अग्नि के अन्दर रखने से ईंटें बनती हैं, उसी भांति पृथ्वी के गीले भाग को दबाव, विशेष गर्मी और शीत के मिलने से कड़े पहाड़ बनते हैं।

पृथ्वी के विशेष चिपकदार पीले रंग के गीले भाग को विशेष गर्मी, दबाव और शीत मिलने से सोना बनता है। पृथ्वी के सफेद रंग वाले चिपकदार गीले हिस्से को विशेष गर्मी, दबाव और शीत मिलने से चांदी बनती है। पृथ्वी के लाल रंग वाले चिपकदार गीले हिस्से को विशेष गर्मी, दबाव और शीत मिलने से ताँबा बनता है। पृथ्वी के काले रंग वाले चिपकदार गीले भाग को विशेष गर्मी, दबाव और शीत मिलने से लोहा बनता है। इस प्रकार सब धातुओं के बनने में पृथ्वी का चिपकदार गीलापन, गर्मी, दबाव और सर्दी आदि विषयों में अलग-अलग अन्तर होता है। पृथ्वी की विशेष अग्नि से कुछ पत्थर इतने पक जाते हैं कि उनमें भी अग्नि का सा प्रकाश आ जाता है और वे बड़े निगर हो जाते हैं। यदि सफेद रंग का पत्थर हो तो उस में सफेद प्रकाश होता है, उसको हीरा कहते हैं। यदि पत्थर का रंग लाल हो तो उस में लाल प्रकाश होता है, उसको लाल कहते हैं। यदि पत्थर का रंग पीला हो तो उस में पीला प्रकाश होता है, उसको पुखराज कहते हैं। यदि पत्थर का रंग काला हो तो उसमें नीला प्रकाश होता है, उसको नीलम कहते हैं। इन सबको रत्न कहते हैं।

पहाड़ों, धातुओं और रत्नों का अग्नि उनके परमाणुओं को संगठित रखता है, जिससे उनके परमाणु आपंस में बिलकुल जुड़े हुए रहते हैं। जब रत्न, धातु और पहाड़ अग्नि से इतने तप्त होते हैं कि उनके अन्दर का अग्नि बाहर भी आ जाता है, तब

उनके परमाणु पिघल कर अथवा राख होकर अलग-अलग होते हैं।

पहाड़ों की तरह सोना, चांदी, ताँबा, लोहा और रत्न जल्दी जलकर चूना या राख नहीं बनते। इसका कारण यह है कि पहाड़ों की अपेक्षा सोना, चांदी, तांबा और लोहा आदि धातुओं में विशेष लचकीलापन होता है और रत्न विशेष अग्नि में परिपक्व होते हैं, इसीलिये वे साधारण अग्नि से भस्म नहीं हो सकते।

अग्नि धातुओं की अपेक्षा पहाड़ों को जल्दी जलाकर राख करके उनके परमाणुओं को अलग-अलग कर देता है। परन्तु धातुओं को उनके लचकीलेपन के कारण जल्दी जलाकर राख नहीं बना सकता। उनके लचकीलेपन को नष्ट करने वाली वस्तुओं के संयोग से वे सहज में भस्म किये जा सकते हैं।

प्रत्येक वस्तु के परमाणु अलग-अलग तभी हो सकते हैं जबकि उनके अन्दर का अग्नि बाहर हो जाता है। प्रत्येक वस्तु के अन्दर का अग्नि बाहर होने के दो कारण होते हैं। सृष्टि में कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनको पानी में डालने से उनके अन्दर की गर्मी बाहर हो जाती है और कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनकी गर्मी को पानी बाहर नहीं कर सकता, उनकी गर्मी को अग्नि ही बाहर कर सकता है।

पृथ्वी के अन्दर की गर्मी, मिट्टी-पहाड़ों में मिला हुआ अग्नि और जल में सम्मिलित अग्नि,—सब संगठित होकर

पृथ्वी के एक बड़े भारी कार्य को किये हुए हैं। वे पृथ्वी के अलग-अलग परमाणुओं को एकत्रित कर पृथ्वी का ठोस स्वरूप बनाए हुए हैं, जैसे घड़े के अलग-अलग परमाणु एकत्रित होकर घड़े का ठोस स्वरूप बनाते हैं। घड़े के अलग-अलग परमाणु भी अग्नि से ही एकत्रित होते हैं। घड़े के आरम्भ-काल में उसके गीलेपन में जो जलतत्त्व होता है, घड़े की परिपक्व अवस्था में उसका अभाव हो जाता है। इसलिए घड़े के परमाणुओं का संगठन अग्नितत्त्व से बना रहता है। संगठन में जलतत्त्व केवल सहायक होता है।

पृथ्वी अपनी अग्नि से वायु, मेघ और समुद्र को अपनी ओर आंकर्षित किए हुए रहती है और पृथ्वी की समस्त वस्तुयें उसमें टिकी हुई रहती हैं।

यदि पृथ्वी के अन्दर अग्नि न होता तो उसके परमाणु अलग-अलग होकर पृथ्वी छिन्न-भिन्न हो जाती। महाप्रलय में जब उसके अन्दर का अग्नि बाहर हो जाता है, तब उसके परमाणु अलग-अलग होकर वायुमण्डल में उड़ जाते हैं और पृथ्वी छिन्न-भिन्न हो जाती है। इसलिए पृथ्वी में मिला हुआ अग्नि उसके लिए परम लाभकारी है अर्थात् पृथ्वी का जीवन है।

पृथ्वी के संयोग में वायु का जितना अधिक भाग सम्मिलित है, उसको उतना ही अधिक उसकी आवश्यंकता है। जल में वायु के जो पांच भाग सम्मिलित हैं, उनसे जलचर जीव

सांस लेते हैं, तैरते हैं। उसी वायु से जल के परमाणु की जुदाई होती है जिससे जल में बहने की गति पैदा होती है।

यदि समुद्र के जल में मिला हुआ वायु उसके परमाणुओं को अलग-अलग न किये होता तो जल के परमाणु आपस में इतने घनिष्ट मिले होते कि समुद्र का जल पहाड़ों से भी कड़ा बना रहता। उसमें न तो बहने की शक्ति रहती और न उसमें कोई जीव-जन्तु रह सकते।

अग्नि में मिला हुआ वायु उसको जागृत रखता है। अग्नि को एक स्थान से दूसरे स्थान में बढ़ाकर फैलाता और दौड़ाता है। यदि अग्नि में वायु का संयोग न होता तो उससे जलने और फैलने के कार्य न हो सकते।

वायु के बारह भाग जो मिट्टी में मिले हुए हैं, वे मिट्टी के अणुओं को फोपला किए हुए रहते हैं। वही तमाम बीज-वनस्पतियों को उगाकर उनकी जड़ों को पृथ्वी के अन्दर फैलाते हैं। उन्हीं से तमाम बेल, वृक्ष और पौधों की जड़ें पृथ्वी से रस शोषकर अपने सब अङ्गों में पहुंचाती हैं।

पृथ्वी के गर्भ की अग्नि को जलाना, मिट्टी-पहाड़ों में जो छिपी हुई अग्नि है उसको जागृत रखना और पृथ्वी की आवश्यकता से अधिक अग्नि एवं जल को पृथ्वी से पृथक् करना, ये सब कार्य पृथ्वी में मिले हुए वायु से होते हैं।

वायु के उनतीस भाग जो पृथ्वी के बाहर हैं, वे जल और

अग्नि के बढ़े हुए भागों को शोषकर पृथ्वी से ऊपर वायु-मण्डल में ले जाते हैं। समुद्र जल से भाप को शोषकर मेघों को बनाते हैं, मेघों की अलग-अलग बूंदें बनाकर बरसाते हैं, सूर्य, चन्द्रमा और तारों के प्रकाश एवं तेज को पृथ्वी में पहुंचाते हैं तथा पृथ्वी को दैनिक और वार्षिक गति में घुमाते हैं।

मनुष्य, हाथी, घोड़े, गाय, भैंस आदि समस्त पिण्डजों का सांस लेना, स्पर्श करना, चलना और शब्द सुनना; गरुड़, हंस, कौवे आदि अण्डजों का उड़ना और वृक्षों का सांस लेना उसी वायु से होता है।

मिट्टी-पहाड़ आदि ख़ुश्की के बारह भाग जिनसे पृथ्वी का ठोस रूप बना है, वे पृथ्वी के वायु, अग्नि और जल के आधार हैं। यदि पृथ्वी का ठोस स्वरूप न होता तो तमाम समुद्र को वायु शोषकर मेघों की तरह वायु-मण्डल में ले जाता। पृथ्वी के ठोस आधार में समुद्र एवं नदियों का जल, पृथ्वी का वायु और पृथ्वी का अग्नि सुरक्षित है।

स्थलचर, जलचर और नभचर जीवधारी एवं तमाम बनस्पतियां इसी ठोस आधार पर रहते हैं। पृथ्वी का यह ठोस स्वरूप (मिट्टी-पहाड़ आदि) पृथ्वी के जल, वायु, अग्नि और तमाम चराचर का आधार है।

जल, अग्नि, वायु और मिट्टी-पहाड़ आदि के संयोग से यह विस्तृत पृथ्वी बनी है, जिस पर हम हैं और जिस पर सब स्थावर, जङ्गम एवं समस्त जड़-चेतन टिके हुए हैं।

पृथ्वी के सत्त्व, रज और तम त्रिगुण भेद होते हैं। उसके सत्त्वगुण से गन्ध, रजोगुण से मिट्टी-पहाड़ और तमोगुण से छाया बनती है। जितनी भी गन्धें होती हैं, वे सब पृथ्वीतत्त्व में रहती हैं। वनस्पतियों के पुष्प अपने आहार के साथ गन्धों को पृथ्वी से लेते हैं। पृथ्वी की गन्ध पुष्पों में अनेक भेदों से उत्पन्न होकर महकती है।

प्राणियों के शारीरिक पृथ्वीतत्त्व के सत्त्वगुण से घ्राण उत्पन्न होता है। इसलिए प्राणियों को घ्राण से सब प्रकार की गन्धों का ज्ञान होता है।

पृथ्वी के रजोगुण से मिट्टी-पहाड़ आदि पार्थव्य-तत्त्व उत्पन्न होते हैं। वे जैसे प्रथम कीचड़ के रूप में बनते हैं, वैसे ही प्राणियों के शरीर में पार्थव्य-तत्त्व से प्रथम गुदा बनता है। गुदा से धीरे-धीरे आंतें, मांस, हड्डियाँ, नाखून, बाल और दाँत बनते हैं।

पृथ्वी-तत्त्व के तमोगुण से छाया बनती है, जो रात्रि में पृथ्वी को ढकती है। उसमें नेत्रों को पृथ्वी पर के पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। प्राणियों के शारीरिक पृथ्वीतत्त्व के तमोगुण से निद्रा उत्पन्न होती है, जिससे निद्रा में प्राणियों को कोई ज्ञान नहीं रहता।

आकाश, वायु, अग्नि और जल में छाया नहीं होती। छाया पृथ्वीतत्त्व में आती है। जल से भी छाया तभी पैदा होगी

जब वह जमकर पार्थव्य-गुण धारण करेगा। इसलिए जब जल से सूक्ष्म भाप आकाश में उड़ती है, तब उससे छाया नहीं होती और जब आकाश में शीत से जमकर उसके मेघ के अणु बन जाते हैं अथवा उसमें एक तरह का पार्थव्य-गुण आ जाता है, तब मेघों के समूह से छाया होती है। यदि जल में छाया आती तो भाप से भी छाया उत्पन्न होती।

पृथ्वी बनी, कहाँ है? वह आकाश में बनी है। पृथ्वी का आधार आकाश है। पृथ्वी ठीक इस प्रकार आकाश में अपनी चालों से घूम रही है, जिस भांति उड़ते हुए पतंग को हम आकाश में भ्रमण करते हुए देखते हैं। पतंग आकाश में पृथ्वी की नियत चालों की भांति नहीं घूमता। पृथ्वी दैनिक और वार्षिक दो नियत चालों में घूम रही है।

यदि हम पृथ्वी से इतने बड़े होते कि जितने बड़े पतंग से हैं और इस पृथ्वी को छोड़कर दूसरी पृथ्वी में खड़े होते तो ठीक पतंग की तरह इस पृथ्वी को भी आकाश में उसकी चालों से घूमते हुए देखते। लेकिन हम पृथ्वी पर हैं और पृथ्वी से बहुत छोटे हैं। इसलिए पृथ्वी को आकाश में घूमते हुए नहीं देख सकते। पृथ्वी के जिस हिस्से पर हम बसे हैं, उसके चारों ओर पृथ्वी के अलावा हम क्या देखते हैं? इसी प्रकार पृथ्वी के सब ओर आकाश के सिवाय कुछ नहीं है।

पृथ्वी की ऊपरी सतह के तीन हिस्सों में समुद्र, एक हिस्से में हिम और एक हिस्सा खुश्की है। घुमाव के कारण

पृथ्वी का गोल आकार बन गया, किन्तु वायु और जल की तरंगों के संघर्षण से और पहाड़ों की ऊँचाई, नदियों की गहराई तथा उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों की चपटाई के कारण पृथ्वी की वास्तविक शक्ल गोल कद्दू के आकार की तरह है।

पृथ्वी जब आरम्भ में जलाकार थी, तब वायु और सूर्य के कारण उसके बाहरी आकार का जल सूखकर खुश्की का प्रथम भाग सुमेरु (हिमालय) पहाड़ उत्पन्न हुआ। फिर वायु के शोषण और सूर्य के तेज के योग से हिमालय पहाड़ के पश्चात् धीरे-धीरे जल सूखकर समस्त खुश्की का भाग उत्पन्न हुआ।

वर्तमान समय में खुश्की का जितना भाग पृथ्वी में दिखाई देता है, वह यकायक उत्पन्न नहीं हुआ। जल क्रमशः गलता और सूखता गया और खुश्की का भाग उत्पन्न होता गया। पृथ्वी की ऊपरी सतह में जितना शेष जल रहा उससे समुद्र बने हैं। महाप्रलय तक जल का वह समुद्री भाग भी सूखते-सूखते विनष्ट हो जाता है।

पृथ्वी की गोलाई २५,००० मील है। वह आकाश में उत्तर से दक्षिण को लटकी हुई है। इसका लटकाव आकाश में किसी त्रिभुज के ६६ अंश कोण वाले कर्ण की भांति है। वह लगातार अपनी कीली पर दैनिक चाल से पश्चिम से पूर्व को और वार्षिक गति में अपने क्रान्तिवृत्त में दक्षिण से उत्तर को

घूम रही है। वह अपनी दैनिक और वार्षिक गति में बिलकुल धीमी चाल से घूम रही है। इतनी धीमी घूम रही है, जितना हम दैनिक और वार्षिक गति में सूर्य को घूमते हुए समझते हैं। वह पृथ्वी की वास्तविक चाल है।

वायु के जो २६ भाग पृथ्वी को गतिमय बनाये हुए हैं, वे भी पृथ्वी की गति के साथ गतिमय बने रहते हैं। उनका विस्तार पृथ्वी से बहुत दूर आकाश तक है। वहाँ तक वायु-मण्डल भी पृथ्वी की चाल के समान बहुत धीमा वेगवान् बना रहता है, जिससे उस वायु और पृथ्वी की गति का साधारणतया हमें ज्ञान तक नहीं हो सकता।

पृथ्वी के एक दैनिक चक्र के घुमाव से एक दिन और एक रात्रि होती है तथा वार्षिक गति के एक चक्कर के घुमाव में एक उत्तरायण और एक दक्षिणायन होता है। पृथ्वी में गन्ध गुण और मृत्तिका शक्ति है। पार्थव्य-तत्त्व के सत्वगुण से गन्ध, रजोगुण से मृत्तिका और तमोगुण से छाया उत्पन्न होती है।

अध्याय १६

सूर्य और पृथ्वी का विज्ञान

सूर्य पृथ्वी से पहले उत्पन्न हुआ। वह आकाश में एक बहुत बड़ा अग्नि का गोला है। उसके समीप हज़ारों योजन तक अत्यन्त तेज के प्रभाव से कोई पिण्ड नहीं है। सूर्य पृथ्वी से बहुत बड़ा है। आकाश में उसका विस्तार बहुत विस्तृत है।

सूर्य का तेज और प्रकाश जितनी दूर तक हमारी पृथ्वी में पहुँच रहा है, उतनी ही दूर तक उसका तेज और प्रकाश अपने सब ओर के पिण्डों में पहुँच रहा है। सूर्य से तपने वाले सब पिण्ड उससे समान दूरी पर नहीं हैं।

सूर्य अपने स्थान पर बड़ी तेजी से घूम रहा है। उसकी शक्ल गेंद की तरह गोल है। तेज घूमने के कारण वह पृथ्वी आदि अपने समीपी पिण्डों में तेज और प्रकाश बड़ी सुगमता से पहुंचा रहा है। पिण्डों में सूर्य से प्रकाश और तेज पहुंचाने का कार्य सूर्य और पिण्डों के मध्यस्थ वायुमण्डल से होता है।

सूर्य से पृथ्वी ९८००००० मील की दूरी पर है। सूर्य की ओर से पृथ्वी को सूर्य का प्रबल आकर्षण खींचता है और वायु की ओर से उसको वायु का बल खींचता है। इन दोनों

प्रबल शक्तियों के खिंचाव के कारण पृथ्वी अपने स्थान पर सूर्य और वायु की ओर घूमने लगी। पृथ्वी का जो भाग सूर्य के सम्मुख होता है, उसमें सूर्य का तेज और प्रकाश पहुँचने से. दिन होने लगा और पृथ्वी का जो भाग सूर्य के विमुख रहा उसमें तेज और प्रकाश न होने से अन्धकार व रात्रि होने लगी।

इस प्रकार पृथ्वी बराबर दिन-रात के चक्कर में घूमने लगी और उसमें दिन-रात होने लगे। पृथ्वी दिन-रात के चक्र में सूर्य की ओर से वायु की ओर घूम रही है। यद्यपि पृथ्वी से सूर्य की ओर भी वायु है, किन्तु वहां सूर्य के प्रभाव से वायु का बल न्यून होता है और सूर्य का बल अधिक होता है। जैसे दिन में सूर्य के प्रभाव से चन्द्रमा का प्रकाश मलीन हो जाता है और रात्रि में उज्ज्वल होता है, इसी भांति सूर्य के विमुख पृथ्वी की दूसरी ओर वायु का अधिक बल होता है और सूर्य की ओर सूर्य का अधिक बल होता है। इन दोनों बलों के खिंचाव से पृथ्वी दिन-रात के चक्र में घूम रही है।

पृथ्वी के घूमने से सूर्य नित्य सवेरे पूर्व से उदय होते और शाम को पश्चिम में डूबते दिखाई देता है। इसका कारण पृथ्वी का दैनिक गति में घूमना है। जो सूर्य का घुमाव ज्ञात होता है, वह पृथ्वी का है। पृथ्वी के घुमाव के कारण सूर्य का घुमाव ज्ञात होता है। वास्तविक उस चाल से पृथ्वी घूम रही है,

सूर्य नहीं। वह तो सिर्फ अपने नियत स्थान पर ही बड़ी तेजी से घूम रहा है।

पृथ्वी दिन-रात के चक्र में घूमने के अतिरिक्त, वायु के प्रबल धक्कों और सूर्य के आकर्षण से वार्षिक गति में नियमित चाल से एक वृत्ताकार मार्ग में बराबर सूर्य के गिर्द घूम रही है। सूर्य से पृथ्वी ९८०००००० मील की दूरी पर उसके गिर्द समनान्तर वृत्त में घूम रही है। पृथ्वी वार्षिक गति में सूर्य के गिर्द घूमने से ३६० अंश का वृत्त बनाती है। इसको पृथ्वी का क्रान्तिवृत्त कहते हैं।

९८०००००० मील, जो सूर्य और पृथ्वी के मध्य की दूरी है, वह पृथ्वी के क्रान्तिवृत्त का पूर्ण अर्द्धव्यास नहीं है। सूर्य के मध्य-बिन्दु से अर्द्धव्यास की दूरी ९९७११११११ मील है। क्रान्तिवृत्त का पूर्ण व्यास १९९४२२२२२ मील है।

जिस वृत्ताकार आकाश मार्ग में सूर्य के गिर्द पृथ्वी भ्रमण कर रही है, उस क्रान्तवृत्त की परिधि ६२६७५५५५५ मील है।

पृथ्वी एक दिन रात में क्रान्तिवृत्त का एक अंश के लगभग चलकर समाप्त करती है। क्रान्तिवृत्त के एक अंश की दूरी १७४०९८९ मील है।

पृथ्वी एक पूरे दिन-रात या ६० घड़ी में क्रान्तिवृत्त पर १७१७१३९ मील चलती है। वह एक घड़ी या ६० पल में

क्रान्तिवृत्त पर एक कला से कुछ कम चलती है। ६० कला का एक अंश होता है।

क्रान्तिवृत्त के एक कला की दूरी २९०१६ मील है और एक पल में एक विकला चलती है। उसके एक विकला की दूरी ४८४ मील है। एक विपल में एक न्यून-विकला चलती है। क्रान्तिवृत्त के एक न्यून-विकला की दूरी ८ मील है।

पृथ्वी जितने समय में क्रान्तिवृत्त के एक न्यून-विकला की यात्रा करती है, उसको एक विपल कहते हैं। एक विपल में पृथ्वी क्रान्तिवृत्त में ८ मील चलती है। अर्थात् क्रान्तिवृत्त के एक न्यून-विकला की दूरी ८ मील है। ६० न्यून-विकला की १ विकला होती है।

पृथ्वी जितने समय में क्रान्तिवृत्त पर एक विकला की यात्रा करती है, उसको एक पल कहते हैं। एक पल में पृथ्वी ४७७ मील चलती है। क्रान्तिवृत्त के एक विकला की दूरी ४८४ मील है। ६० विकला की एक कला होती है।

पृथ्वी जितने समय में क्रान्तिवृत्त के एक कला की यात्रा करती है, उसको एक घड़ी कहते हैं। एक घड़ी में पृथ्वी क्रान्तिवृत्त में २८६१९ मील चलती है। क्रान्तिवृत्त के एक कला की दूरी २९०१६ मील है। ६० कला का एक अंश होता है।

पृथ्वी जितने समय में क्रान्तिवृत्त के एक अंश की यात्रा करती है, उसको एक दिन कहते हैं। एक दिन में पृथ्वी क्रान्ति-

वृत्त के १७१७१३९ मील तै करती है अर्थात् १ अंश के लगभग चलती है।

उतने ही समय में पृथ्वी की परिधि सूर्य के सम्मुख से सूर्य के विमुख अर्थात् पश्चिम से पूर्व को एक चक्कर घूमती है। पृथ्वी वार्षिक-चक्र में क्रान्तिवृत्त के एक अंश की यात्रा तै करने पर दैनिक-गति से दिन-रात के चक्कर में अपनी परिधि का एक पूर्ण चक्कर घूमती है। उस चक्कर से पृथ्वी में एक दिन और एक रात होती है।

क्रान्तिवृत्त का घेरा ३६० अंश का है। पृथ्वी ३६५$\frac{१}{४}$ दिन में वार्षिक गति से क्रान्तिवृत्त में घूम कर सूर्य की पूरी प्रदक्षिणा करती है। इसको एक वर्ष कहते हैं।

पृथ्वी वार्षिक गति में घूमने वाली चाल से सूर्य की एक पूरी प्रदक्षिणा करने पर, पश्चिम से पूर्व दैनिक गति में घूमनेवाली चाल से ३६५$\frac{१}{४}$ चक्कर घूमती है, जिसमें ३६५ दिन और ३६५ रात होती हैं। पृथ्वी की वार्षिक और दैनिक चालों से उसका काल-विभाग बनता है।

पृथ्वी आकाश में सूर्य के गिर्द वार्षिक गति में दक्षिण से उत्तर को और उत्तर से दक्षिण को एक परिमित मार्ग में घूम रही है। पृथ्वी को उस मार्ग में बारह राशियों के सम्मुख होकर घूमना पड़ता है। क्रान्तिवृत्त के ३०-३० अंश की यात्रा करने पर पृथ्वी प्रत्येक राशि से विशेष सम्बन्ध रखती है।

सूर्य की एक पूरी प्रदक्षिणा करने पर पृथ्वी को बारह

राशियों के क्रान्तिवृत्तों का भोग करना पड़ता है। यही बारह माह माने जाते हैं।

पृथ्वी के घुमाव से जैसे-जैसे राशियों का परिवर्तन होता है, वही ऋतुओं का परिवर्तन है। १२ राशियों की ६ ऋतु होती हैं। पृथ्वी दैनिक और वार्षिक गति में निरर्थक नहीं घूमती। इन दोनों चालों के घुमाव से ही पृथ्वी का सारा वैधानिक कार्य सञ्चालित होता है, जैसे दिन-रात का होना, ऋतुओं का परिवर्तन, शीत-उष्ण और वर्षा ऋतु का नियमित रूप से होते रहना तथा वनस्पतियों का नियमित रूप से उगना, फूलना, फलना और पकना आदि पृथ्वी के समस्त कार्य सूर्य के गिर्द दैनिक और वार्षिक गति में घूमने से ही होते रहते हैं।

पृथ्वी क्रान्तिवृत्त में नित्य चन्द्र, मंगल, बृहस्पति, शुक्र, शनि,—इन छः ग्रहों के साथ सूर्य के गिर्द घूम रही है। वह पश्चिम से पूरब घूमनेवाली चाल से प्रतिदिन प्रत्येक ग्रह से विशेष सम्बन्धित होकर सूर्य के गिर्द घूमती है। पृथ्वी जिस दिन, जिस ग्रह से विशेष सम्बन्ध रखती है, उसी ग्रह के नाम से पृथ्वी में वह दिन माना जाता है। सातवें दिन पृथ्वी अन्य ग्रहों की अपेक्षा सूर्य से ही विशेष सम्बन्ध रखती है, इसलिए वह दिन पृथ्वी पर सूर्य के नाम से होता है।

जैसे चन्द्रवार को पृथ्वी चन्द्रमा से विशेष सम्बन्धित होने पर वह दिन पृथ्वी पर चन्द्रमा के नाम से माना जाता है,

ऐसे ही प्रतिदिन मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि ग्रहों से पृथ्वी के विशेष सम्बन्धित होने पर मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि दिन होते हैं।

इसी तरह दैनिक गति में सूर्य के गिर्द घूमने से और चन्द्रमा आदि पिण्डों से विशेष सम्बन्धित होने से पृथ्वी पर लगातार सात दिन,—चन्द्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि और रविवार होते हैं।

दैनिक और वार्षिक गति में घूमने के कारण वायु के प्रबल धक्कों से पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी भाग चपटे हो गये, उनको उत्तरी दक्षिणी ध्रुव कहते हैं। दैनिक और वार्षिक गति में घूमने के कारण पृथ्वी की वास्तविक शक्ल गोल कद्दू की तरह है। सूर्य की तरह वह बिलकुल गोल नहीं है। इसलिए पृथ्वी के सब भाग प्रत्येक मौसम में सूर्य के सम्मुख बराबर नहीं तपते। पृथ्वी कद्दू-आकार होने से किसी मौसम में उसका कोई आधे से अधिक हिस्सा, किसी मौसम में समान भाग और किसी में न्यून भाग सर्य के सम्मुख तपते हैं।

पृथ्वी अपनी गोलाई के हिसाब से क्रान्तिवृत्त में घूमते हुए सूर्य के सम्मुख दो तरह से तपती है। इस तरह उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के मध्यस्थ पृथ्वी के दो बराबर अर्द्धभाग होते हैं अर्थात् उत्तरी ध्रुव की ओर उत्तरी भाग और दक्षिणी ध्रूव की ओर दक्षिणी भाग।

अर्द्ध-पौष के चार दिन पहले से पृथ्वी का उत्तरी भाग सूर्य के सम्मुख तपना आरम्भ होता है और दक्षिणी भाग में सूर्य का अस्त-सा होता है। अर्द्ध-पौष के चार दिन पहले से अर्द्ध-आषाढ़ के ५ दिन पहले तक पृथ्वी का उत्तरी भाग क्रमशः अधिक सूर्य के सम्मुख झुकता जाता है। इसलिए माह पौष-मध्य के चार दिन पहले से और आषाढ़-मध्य के ५ दिन पहिले तक पृथ्वी के उत्तरी भाग में दिन और गर्मी क्रमशः बढ़ते रहते हैं।

जिस तरह दैनिक चक्र में घूमने से पृथ्वी के अर्द्ध भाग में एकाएक दिन और एकाएक रात्रि नहीं होती,—क्रमशः दिन होकर वह तप्त होती है और रात्रि होकर शीतल होती है, उसी तरह वार्षिक गति में घूमने से पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी अर्द्ध भागों में शीत और ताप होता है।

पृथ्वी के जिस हिस्से में हम हैं, उसमें सवेरे ६ बजे सूर्य निकलने पर भी ७ बजे तक अधिक ठंड रहती है। ८ बजे कुछ कम, ९ बजे ठंड और गर्मी समान, १० बजे गर्मी कुछ अधिक, ११ बजे गर्मी विशेष और १२ बजे गर्मी की अन्तिम सीमा हो जाती है।

रात्रि को अधिक ठंड समाने से दिन के १२ बजे भी पृथ्वी में उतनी गर्मी मालूम नहीं होती जितनी कि १२ बजे से २ बजे तक होती है। यद्यपि १२ बजे के उपरान्त सूर्य की

गर्मी पृथ्वी में कम पड़ती है, किन्तु सवेरे ६ बजे से १२ बजे दिन तक सूर्य की गर्मी पृथ्वी में समाती रहती है। उस के उपरान्त २ बजे तक पृथ्वी में समाई हुई गर्मी और सूर्य की गर्मी का योग होने से १२ बजे की अपेक्षा १, २ बजे अधिक गर्मी मालूम होती है। फिर ३ बजे शाम से गर्मी न्यून और ठण्ड क्रमशः अधिक होती जाती है।

इसी भांति पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी भागों में ६ माह का उत्तरायण और ६ माह का दक्षिणायन होने पर शीत-उष्ण का सम्बन्ध होता है। माह पौष-मध्य के ५ दिन पहले से और आषाढ़-मध्य के ५ दिन पहले तक पृथ्वी का उत्तरी भाग क्रमशः सूर्य के सम्मुख अधिक तपता रहता है। पौष का महीना सवेरे ६ बजे की तरह है।

यद्यपि सवेरे ६ बजे सूर्य उदय होता है, किन्तु पृथ्वी में ठण्ड बनी रहती है। वैसे ही अर्द्ध-पौष के ४ दिन पहले से पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव-भाग का झुकाव सूर्य के सम्मुख हो जाता है, लेकिन उस महीने में पृथ्वी के उत्तरी भाग में ठण्डक बनी रहती है

गर्मी और सर्दी के सम्बन्ध से माघ ७ बजे सवेरे की तरह, फागुन ८ बजे सवेरे, चैत्र ६ बजे, वैशाख १० बजे, ज्येष्ठ ११ बजे और आषाढ़ का महीना १२ बजे दिन की तरह है। इन महीनों में पृथ्वी का उत्तरी भाग धीरे-धीरे क्रमशः सय

की ओर झुकने से अधिक तपता है और उसमें दिन भी क्रमशः बढ़ते रहते हैं। इन ६ महीनों में पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव, जो चपटा है, उसमें एक प्रकार का दिन बना रहता है।

माह आषाढ़-मध्य के ४ दिन पहले से पृथ्वी के दक्षिणी भाग का झुकाव सूर्य के सम्मुख होना आरम्भ होता है और क्रमशः माह अर्द्ध-पौष के ५ दिन पहले तक होता रहता है।

यद्यपि माह आषाढ़ से पृथ्वी के दक्षिणी भाग का झुकाव सूर्य की ओर होना आरम्भ हो जाता है तथापि पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव भाग में माह श्रावण और भाद्रपद में भी १, २ बजे दिन की तरह गर्मी अधिक होती है।

क्योंकि माह माघ से आषाढ़ तक पृथ्वी के उत्तरी भाग में गर्मी समाती है, इसलिए उस समाई हुई गर्मी और सूर्य की गर्मी के योग से पृथ्वी के उत्तरी भाग में माह श्रावण और भाद्रपद में १. २ बजे दिन की तरह अधिक गर्मी ज्ञात होती है। माह असूज, कार्त्तिक और मार्गशीर्ष ३, ४ और ५ बजे शाम की तरह हैं।

माह पौष में पृथ्वी के उत्तरी भाग में सूर्य की बहुत कम गर्मी पहुँचती है, जिससे वहां अत्यधिक ठण्ड हो जाती है और दिन भी बिलकुल छोटे हो जाते हैं। माह श्रावण से माह पौष तक के ६ महीनों में पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव जो चपटा है, उसमें एक तरह की रात्रि होती है।

माघ से आषाढ़ तक पृथ्वी के उत्तरी भाग का झुकाव सूर्य के सम्मुख होने से उत्तरायण और श्रावण से पौष तक पृथ्वी के दक्षिणी भाग का झुकाव सूर्य के सम्मुख होने से दक्षिणायन माना जाता है। अर्थात् सूर्य के पृथ्वी के उत्तर की ओर होने को उत्तरायण और दक्षिण की ओर होने को दक्षिणायन कहते हैं।

सूर्य ब्रह्माण्ड में परमात्मा का प्रतिनिधित्व करता है। वह ब्रह्माण्ड को चेतना, प्रकाश (ज्ञान), तेज और पुष्टि प्रदान करता है। सूर्य में दाहक अग्नि नहीं होती। दाहक अग्नि पृथ्वी उत्पन्न करती है और वह पृथ्वी में ही रहती है।

अध्याय 17

सोम की उत्पत्ति

संसार की सारी उत्पत्ति और विनाश में पांच तत्त्वों की प्रधानता मानी गई है, जो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं। इनके अतिरिक्त संसार की उत्पत्ति और विनाश में सोम भी एक प्रधान कारण है। सोम एक छठा तत्त्व माना जा सकता है। वह अग्नि और जल के सत्त्वगुणों के योग से उत्पन्न हुआ। उसकी बनावट में तीन भाग अग्नि का सत्त्वगुण प्रकाश और दो भाग जल का सत्त्वगुण रस है। सोम प्रकाश और रस के योग से बना है। जिस तरह आकाश का गुण शब्द, वायु का गुण स्पर्श, अग्नि का गुण रूप, जल का गुण रस और पृथ्वी का गुण गन्ध है; उसी तरह सोम का गुण शीत है।

आकाश में सोम एक ऐसे ढंग का पिण्ड है, जो सूर्य से प्रकाश खींचता है, जिसको वह पृथ्वी तक पहुँचाता है, किन्तु तेज नहीं खींचता। पृथ्वी से चन्द्रमा में जो प्रकाश दिखाई देता है, वह उसके और सर्य के प्रकाश के योग से उत्पन्न होता है।

सोम बिलकुल गोल पिण्ड है जिसको हम चन्द्रमा कहते हैं। वह बहुत बड़ा पिण्ड है। उसमें भी दिन-रात होने का क्रम जारी है। वह अपने क्रान्तिवृत्त में पृथ्वी से बारहगुना अधिक चलता है। चन्द्रमा एक दिन में अपने क्रान्तिवृत्त के बारह अंश चलकर तै करता है। चन्द्रमा अपने क्रान्तिवृत्त में ठीक २७½ दिन में एक पूरा चक्कर घूमता है। लेकिन तिथियों के सम्बन्ध से पृथ्वी में चन्द्रमा का घुमाव ३० दिन का ज्ञात होता है, जिससे १५ शुक्लपक्ष की और १५ कृष्ण पक्ष की तिथियां होती हैं।

पूर्णमासी को चन्द्रमा के दिन का पूरा हिस्सा पृथ्वी की ओर होता है। उस दिन वह पृथ्वी पर अधिक प्रकाश और आकर्षण डालता है। वह अपने आकर्षण से समुद्र का जल खींचकर वायुमण्डल की ओर बढ़ता है, जिसको ज्वार कहते हैं।

शुक्ल-पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णमासी तक प्रतिदिन चन्द्रमा के दिन का पन्द्रहवां भाग पृथ्वी की ओर होता रहता है और पूर्णमासी को उस का पूरा दिन पृथ्वी की रात्रि की ओर हो जाता है। पूर्णमासी को पृथ्वी की रात्रि में चन्द्रमा सब दिन से अधिक प्रकाश पहुंचाता है, क्योंकि उसका प्रकाशमान् पूरा भाग उस दिन पृथ्वी की रात्रि की ओर हो जाता है। फिर पृथ्वी और चन्द्रमा के घुमाव से पूर्णमासी से अमावास्या तक चन्द्रमा की रात्रि का पन्द्रहवां भाग प्रतिदिन पृथ्वी की ओर होता रहता है, यहां तक कि अमावास्या को चन्द्रमा की रात्रिवाला पूर्ण

भाग पृथ्वी की ओर हो जाता है, इसलिए कालेपन के कारण उस दिन चन्द्रमा पृथ्वी से दिखाई नहीं देता।

अमावास्या के उपरान्त पृथ्वी और चन्द्रमा के घुमाव के कारण चन्द्रमा फिर किसी पक्ष में प्रतिपदा को और किसी पक्ष में द्वितीया को दिखाई देता है। चन्द्रमा और पृथ्वी दोनों के घुमाव से पृथ्वी में १५ दिन के शुक्ल-पक्ष और १५ दिन के कृष्ण-पक्ष लगातार होते रहते हैं। जिन दिनों चन्द्रमा का दिन वाला हिस्सा पृथ्वी की ओर प्रकाशित होता रहता है, उसको शुक्ल-पक्ष कहते हैं और जिन दिनों पृथ्वी की ओर चन्द्रमा का रात्रि वाला हिस्सा होता रहता है, उसको कृष्ण-पक्ष कहते हैं।

पृथ्वी एक वर्ष में सूर्य की एक परिक्रमा करती है और चन्द्रमा एक वर्ष में अपने क्रान्तिवृत्त में बारह परिक्रमा करता है। चन्द्रमा की उन १२ परिक्रमाओं से पृथ्वी में १२ शुक्ल-पक्ष और १२ कृष्ण-पक्ष होते हैं।

सोम के भी सत्त्व, रज, तम,—त्रिगुण भेद होते हैं। उसके सत्त्वगुण से सोमरस पैदा होता है, जो वनस्पतियों में जीवों का पोषण करनेवाला रस होता है और बीजों में उत्पादन शक्ति बनता है। सोम के रजोगुण से चौदह तिथियां होती हैं और उन तिथियों के चौदह चन्द्रबिम्बों से चौदह प्रकार के पराग पैदा होते हैं। सोम के तमोगुण से शीत पैदा होता है।

समस्त वनस्पतियों की उत्पत्ति सोम के परागों से होती है। परागों का विस्तृत वर्णन 'वनस्पति-अध्याय' में किया जायगा।

शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा में जैसे-जैसे प्रकाश की कलाएँ बढ़ती हैं, वैसे-वैसे चन्द्रमा में सोमरस भी बढ़ता है। पृथ्वी पर उसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। शुक्ल-पक्ष में जो समुद्र का जल बढ़ता है, उसका एक विशेष कारण सोमरस भी है, क्योंकि चन्द्रमा में जैसे-जैसे सोमरस बढ़ता है, वैसे-वैसे समुद्र के जल में भी रस की वृद्धि होती है। उन दिनों वनस्पतियों और बीजों में भी सोमरस की वृद्धि होती है। सोमरस में सूक्ष्म मीठापन होता है। चन्द्रमा की प्रकाश-कलाओं की वृद्धि के साथ-साथ वनस्पतियों और बीजों में उस रस की वृद्धि होती है। उसका ज्ञान मनुष्यों की रसनाओं से नहीं हो सकता, वरन् वनस्पतियों और बीजों में रहने वाले कीटकों की रसनाओं से होता है। इसीलिए शुक्ल-पक्ष में काटे हुए बीज और लकड़ियों पर उस मीठे रस के कारण प्रायः कीड़ियां लगती हैं।

लेकिन कृष्ण-पक्ष में जैसे-जैसे चन्द्रबिम्ब की प्रकाश-कलाओं को अन्धकार ढकता रहता है, वैसे-वैसे सोमरस के स्थान में एक तरह का सूक्ष्म विषैला रस बढ़ता जाता है। उन दिनों बीजों और वनस्पतियों में भी उसी रस की वृद्धि होती है। उस रस में सूक्ष्मता से कड़वापन होता है, इसलिए कृष्ण-पक्ष में काटे हुए बीजों और वनस्पतियों में कड़वा रस रह जाता है। उसका ज्ञान भी मनुष्यों की रसनाओं से नहीं हो सकता,

केवल उन्हीं कीड़ियों की रसनाओं से ही होता है। इसी से कृष्ण-पक्ष में काटे हुए बीजों और लकड़ियों पर उस कड़वे रस के कारण कीड़ियां नहीं लगतीं।

दिन और रात्रि के सम्बन्ध से भी सोमरस घटता-बढ़ता रहता है। अधिकतर फल प्रायः रात्रि में ही पकते हैं। इसका कारण यह है कि रात्रि को सोम का अधिक बल होने से फलों को अधिक सोमरस मिलता है। जिस तरह दिन में सूर्य का पृथ्वी पर अधिक प्रभाव पड़ता है, उसी तरह रात्रि में सोम का अधिक प्रभाव पड़ता है।

सोम के रजोगुण से भिन्न-भिन्न पराग पैदा होते हैं, जिनसे बीजों में अंकुरण-शक्ति बनी रहती है।

वनस्पतियों की जड़ें गर्भ केशर से और अंकुरवाला सारा ऊपर का हिस्सा पराग से उत्पन्न होता है। शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष की १४ तिथियों के १४ चन्द्रबिम्बों से मुख्य १४ प्रकार के पराग पैदा होते हैं। उन्हीं से बीजों में उत्पादन-शक्ति बनी रहती है, जिससे बीजों से वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। जिन बीजों में जैसे पराग होते हैं, वे चन्द्रमा, जल-वायु और पृथ्वी से वैसे ही रस लेते हैं। परागों में अपने-अपने रस लेने की शक्तियां होती हैं। चन्द्रमा और वनस्पतियों का घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है।

जैसे माता के सर्वांग से स्तनों में दूध जमा होकर उससे

बच्चों का पोषण होता है, वैसे ही विश्व के सर्वांग से चन्द्रमा में सोमरस एकत्रित होकर वायु, जल और पृथ्वी द्वारा वनस्पतियों में उतरना है। उसी से प्राणियों का पोषण होता हैं।

जैसे शुक्र की शक्ति के बिना स्तनों में दूध नहीं बन सकता, वैसे ही सूर्य की शक्ति के बिना चन्द्रमा में सोमरस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। विश्व में सूर्य शुक्र के समान और चन्द्रमा रज के समान है।

सोम के तमोगुण से शीत पैदा होता है। जल, वायु, पृथ्वी में जो शीत समाता है, वह उनको सोम से ही प्राप्त होता है। जल, वायु, पृथ्वी का स्वभाव न शीतल है और न उष्ण। इनको शीत सोम से और तेज सूर्य एवं अग्नि से प्राप्त होता है।

शीत की प्रधानता और तेज की न्यूनता से वायु, जल और पृथ्वी में शीत की अधिकता ज्ञात होती है तथा तेज की प्रधानता और शीत की न्यूनता से उनमें उष्णता ज्ञात होती है। जिस तरह सूर्य से पृथ्वी में चेतना, प्रकाश और तेज पहुंचता है, उसी तरह चन्द्रमा से पृथ्वी में सोमरस, पराग, शीत और प्रकाश पहुँचता है।

कुछ लोग अग्नि के अभाव से शीत को मानते हैं। यह सिद्धान्त अनुकूल नहीं है, क्योंकि जब तक किसी वस्तु के प्रतिकूल सामना करने वाली दूसरी वस्तु नहीं होती, तब तक

उसका अभाव कैसे हो सकता है? यह प्रकृति का अटल नियम है। इस सिद्धान्त से तेज का अभाव कैसे हो सकता है, जबकि सृष्टि के आद्य काल से सूर्य प्रतिदिन तेज प्रदान करता चला आ रहा है? ऐसे तो तेज के प्रतिदिन क्रमशः एकत्रित होने से अब तक सृष्टि को अति तप्त होजाना चाहिये था, लेकिन ऐसा नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि शीत अग्नि के अभाव से पैदा नहीं होता, वह स्वयं है। केवल तेज की न्यूनता से उसका बल और उस की न्यूनता से तेज का बल बढ़ता है।

तेज की तरह शीत का भी उद्गम स्थान है। जिस तरह सूर्य महाचैतन्य पुरुष से तेज प्राप्त करके भूमण्डल को तप्त करता है, उसी तरह सोम महाप्रकृति से शीत प्राप्त करके भूमण्डल को शीतल करता है। जिस तरह सूर्य का तेज पृथ्वी पर आकर उष्ण दाहक शक्ति पैदा करता है, ठीक उसी तरह चन्द्रमा से पृथ्वी, जल और वायु में उतरकर शीत ठंडी दाहक शक्ति पैदा करता है। चन्द्रमा में मनोहर शीतलता होती है, शीत दाहक शक्ति नहीं। चन्द्रमा से पृथ्वी, जल और वायु में उतरने पर ही शीत में दाहक शक्ति पैदा होती है।

यदि सोम से पृथ्वी में शीत न पहुंचता, तो सूर्य के तेज से पृथ्वी भस्म हो जाती। उसमें न कोई जीव-जन्तु पैदा हो सकते और न वनस्पतियाँ उग सकतीं। सोम शीत द्वारा सूर्य के तेज से पृथ्वी तथा उसके जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की रक्षा करता है।

जाड़ों में जल, वायु और पृथ्वी में चन्द्रमा से अधिक शीत समाने पर ये शीतल तथा गर्मियों में सूर्य का अधिक तेज मिलने से उष्ण होते हैं। इस तरह विश्व में यह क्रम सतत् बना रहता है। विश्व में चन्द्रमा बड़ा लाभकारी पिण्ड है।



अध्याय १८

राहु और केतु का क्रान्ति-दर्शन

हमारे सूर्य-मण्डल में दो ऐसे ग्रह हैं, जिन में अन्धकार बना रहता है। वे अन्य पिण्डों की तरह आकाश में नियमित रूप से दिखाई नहीं देते। ये दोनों पिण्ड पृथ्वी के तमोगुण से उत्पन्न हुए और दोनों एक-दूसरे से समान दूरी पर, समान चाल से, बराबर पृथ्वी के गिर्द घूमते हैं। ये दोनों पिण्ड पृथ्वी के संरक्षक हैं और आकाश में अन्य पिण्डों के आकर्षण से सदैव पृथ्वी की रक्षा करते रहते हैं।

उनमें से एक पिण्ड गोलाकार और दूसरा मुद्गराकार या मूली-आकार का है। गोल पिण्ड को राहु और मूली-आकार पिण्ड को केतु कहते हैं। दोनों पिण्ड पृथ्वी के पन्द्रहवें भाग के लगभग छोटे हैं। राहु से केतु कुछ लम्बा है। राहु की परिधि केतु के सिर की परिधि से कुछ अधिक है। केतु कभी-कभी प्रकाशित होकर पृथ्वी से दिखाई देता है।

जब आकाश में पृथ्वी और अन्य पिण्ड अपनी-अपनी चालों के घुमाव के ऐसे सम्बन्ध में होते हैं कि एक पिण्ड दूसरे पिण्ड पर अपना अधिक आकर्षण डालकर एक-दूसरे को अपनी

ओर खींचने लगता है, तब उस समय केतु ग्रह में, पृथ्वी और अन्य पिण्डों के आकर्षणों के मध्य होने से, एक तरह का नवीन आकर्षण पैदा होता है। उस समय केतु अपने और उनके आकर्षण के योग से प्रभावित होकर सूर्य का प्रकाश खींचने में समर्थ होता है। उसी समय केतु ग्रह पृथ्वी से पुच्छल तारे के रूप में दिखाई देता है और पिण्डों की आकर्षण-लड़ाई के समय वह आकाश में भयसूचक झण्डी की तरह पिण्डों में दुर्भिक्ष होने की सूचना प्रकाशित करता है। किन्तु राहु कभी प्रकाशित नहीं होता, वह सदैव अन्धकारयुक्त रहता है।

राहु और केतु से पृथ्वी की महान रक्षा होती है। पृथ्वी के साथ अन्य पिण्डों की आकर्षण-लड़ाई के समय वे आकर्षणों के बीच होकर पृथ्वी तथा अन्य पिण्डों के आकर्षणों के हानिप्रद खिंचाव को पृथक् करते हैं और उनको टकराने से बचाते हैं। किन्तु फिर भी ऐसे समय पर कभी-कभी पृथ्वी आदि पिण्डों में उल्कापात हो जाते हैं, क्योंकि एक पिण्ड दूसरे पिण्ड के कमज़ोर हिस्सों को प्रबल आकर्षण से अपनी ओर खींच ही लेता है।

राहु और केतु दोनों पिण्ड, प्रत्येक समय अपनी-अपनी चालों में पृथ्वी के दोनों ओर घूमते हुए, अन्य पिण्डों से पृथ्वी की रक्षा करते हैं और आकाश में अन्य पिण्डों के हानिप्रद आकर्षणों के मध्यस्थ होकर पृथ्वी को सुरक्षित रखते हैं। ये

दोनों पिण्ड पृथ्वी के दोनों ओर रहकर एक-दूसरे से समान दूरी पर पृथ्वी के गिर्द घूमते रहते हैं।

राहु बिलकुल गोल और केतु मूली के आकार का है। केतु कभी-कभी पृथ्वी से भी दिखाई देता है। वह प्रायः उस समय दिखाई देता है जब उस की पूँछ पृथ्वी से सीधी दूसरे पिण्डों की ओर हो जाती है। केतु का सिर, उस के क्रान्तिवृत्त में, पृथ्वी की ओर और पूंछ दूसरे पिण्डों की ओर रहती है।

राहु के बिम्ब का घेरा और केतु के सिर का घेरा लगभग समान है, किन्तु राहु का घेरा फिर भी कुछ अधिक है और केतु लम्बाई में राहु से अधिक लम्बा है।

राहु के बिम्ब का घेरा लगभग १७१२ मील है। राहु और केतु दोनों ग्रह पृथ्वी के दोनों ओर अपने क्रान्तिवृत्त में पृथ्वी से २४००० मील की दूरी पर घूमते हैं। राहु और केतु के क्रान्तिवृत्त का घेरा १७५८५६ मील है। ये दोनों पिण्ड अपने-अपने मार्ग में समान चाल से एक-दूसरे से समान दूरी पर चलते हैं। दोनों पिण्ड अपनी-अपनी चालों से २८ और ३३ दिन के बीच अपने क्रान्तिवृत्त में घूमकर पृथ्वी की एक पूरी परिक्रमा करते हैं।

चन्द्रमा अपने क्रान्तिवृत्त में जिस गति के सम्बन्ध से घूमता है, उसी गति से राहु और केतु अपने क्रान्तिवृत्त में पृथ्वी के गिर्द घूमते हैं।

प्रायः पूर्णमासी को चन्द्रमा पृथ्वी पर अपना अधिक आकर्षण डालता है, जिससे उस दिन पृथ्वी में समुद्र का पानी ज्वार के रूप में सबसे अधिक ऊपर उठता है। पूर्णमासी को चन्द्रमा अपने प्रबल आकर्षण से पृथ्वी को अपनी ओर खींचने लगता है, किन्तु उस दिन राहु अथवा केतु में से एक ग्रह पृथ्वी से चन्द्रमा की ओर उन के आकर्षणों के बीच होता है और दोनों के आकर्षणों के हानिप्रद प्रभाव को रोकता है। फिर चन्द्रमा अपनी चाल के घुमाव से अमावास्या को पृथ्वी से सूर्य की ओर होता है। उस दिन सूर्य और चन्द्रमा दोनों के आकर्षण का प्रभाव पृथ्वी पर पड़ता है और पृथ्वी को अपनी ओर खींचने लगता है। किन्तु अमावास्या को राहु और केतु में से एक ग्रह पृथ्वी और सूर्य-चन्द्रमा के आकर्षणों के बीच होकर उन के हानिप्रद प्रभाव को रोकता है। अमावास्या को चन्द्रमा का आकर्षण सूर्य और सूर्य का आकर्षण, राहु या केतु के रोकने से, पूर्णमासी की अपेक्षा पृथ्वी पर कम पड़ता है। इसलिए उस दिन समुद्र का पानी पृथ्वी के आकर्षण से पृथ्वी की नीची सतह की ओर भाटे के रूप में घट जाता है।

चन्द्रमा और राहु-केतु अपने-अपने क्रान्तिवृत्तों में एक-दूसरे की चाल के विपरीत लगभग समान चाल से घूमते हैं। उन के इस प्रकार घूमने से किसी पूर्णमासी को पृथ्वी, राहु और चन्द्रमा पृथ्वी के क्रान्तिवृत्त के एक अंश की लगभग सीध में होते हैं तथा अमावास्या को पृथ्वी, केतु और सूर्य एक अंश की

लगभग सीध में होते हैं। किसी पूर्णमासी को पृथ्वी-चन्द्रमा के बीच केतु और किसी अमावास्या को पृथ्वी. सूर्य के बीच राहु होता है। इस क्रम से राहु और केतु बराबर पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य के बीच घूमने रहते हैं, किन्तु प्रत्येक पूर्णमासी एवं अमावास्या को नियमित रूप से चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण नहीं होते। प्रत्येक पूर्णमासी और प्रत्येक अमावास्या को पृथ्वी और चन्द्रमा सूर्य के गिर्द, अपनी-अपनी चालों के घुमाव से और बड़े-बड़े पिण्ड होने के कारण, नित्य एक अंश, एक कला, एक विकला की सीध में होते जाते हैं। किन्तु राहु-केतु प्रत्येक पूर्णमासी और प्रत्येक अमावास्या को पृथ्वी-चन्द्रमा और पृथ्वी-सूर्य के साथ, पृथ्वी के गिर्द घूमने तथा बहुत छोटे पिण्ड होने के कारण, एक अंश, एक कला और एक विकला की सीध में नहीं हो सकते। इसीलिए प्रत्येक पूर्णमासी को चन्द्र-ग्रहण और प्रत्येक अमावास्या को सूर्य-ग्रहण नहीं हो सकता।

जिस पूर्णमासी को चन्द्रमा, राहु-केतु और पृथ्वी का रात्रि वाला भाग एक अंश, एक कला और एक विकला की सीध में अपनी-अपनी चालों के घुमाव से हो जाते हैं, उसी पूर्णमासी को पृथ्वी के रात्रि वाले भाग और चन्द्रमा के मध्यस्थ राहु या केतु के आने से चन्द्रमा का सारा बिम्ब या बिम्ब का कुछ भाग पृथ्वी से आच्छादित हो जाता है। इसी को चन्द्र-ग्रहण कहते हैं।

इसी प्रकार अमावास्या को पृथ्वी का दिन वाला भाग, राहु-केतु और सूर्य-चन्द्रमा एक अंश, एक कला और एक विकला की सीध में हो जाते हैं, जिससे सूर्य का पूर्ण बिम्ब या बिम्ब का कुछ भाग राहु या केतु से आच्छादित हो जाता है। इसी को सूर्य-ग्रहण कहते हैं। यद्यपि पूर्णमासी को भी राहु या केतु में से एक ग्रह सूर्य की ओर रहता है, किन्तु पूर्णमासी को पृथ्वी और सूर्य के बीच एक अंश, एक कला और एक विकला में नहीं होते, अतः वे सूर्य को आच्छादित नहीं कर सकते। इसलिए अमावास्या को ही सूर्य-ग्रहण और पूर्णमासी को ही चन्द्र-ग्रहण होता है। यह प्रकृति का अटल नियम है।

विशेषतया सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण का कारण राहु होता है, किन्तु कभी-कभी राहु से सूर्य-ग्रहण और केतु से चन्द्र-ग्रहण भी हो जाते हैं। हम पृथ्वी पर हैं, अतः पृथ्वी से ग्रहों की चाल को सिद्ध करने के लिए पृथ्वी का क्रान्तिवृत्त निश्चित् किया जाता है और उस के अंश, कला, विकला से सम्बन्ध रक्खा जाता है।

अब शंका यह है कि सूर्य और चन्द्रमा तो बड़े-बड़े पिण्ड हैं तथा राहु-केतु के बिम्ब छोटे हैं, तब राहु-केतु के इतने छोटे बिम्बों से चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के दिन कभी-कभी चन्द्रमा और सूर्य के बिम्ब कैसे आच्छादित होते हैं? यह उदाहरण सर्वत्र सिद्ध है कि समीप वाली छोटी वस्तु से भी दूर की बड़ी वस्तु आच्छादित हो जाती है।

कई एक वैज्ञानिकों के मतानुसार चन्द्रमा पृथ्वी के गिर्द घूमता है और अमावास्या को वह पृथ्वी तथा सूर्य के मध्यस्थ होने से सूर्य को आच्छादित करता है। इसलिए अमावास्या को ही सूर्यग्रहण होता है।

ऐसे ही पूर्णमासी को चन्द्रमा और सूर्य के मध्यस्थ पृथ्वी के होने से पृथ्वी की छाया से चन्द्रमा के ढकने से पूर्णमासी को चन्द्रग्रहण होना बताते हैं। परन्तु ये सिद्धान्त गलत हैं, क्योंकि यदि पूर्णमासी को पृथ्वी की छाया चन्द्रमा के ऊपर पड़ती तो चन्द्रमा के नित्य पृथ्वी से बराबर दूरी पर घूमने के कारण प्रत्येक पूर्णमासी को पृथ्वी की छाया अपनी नियत मर्यादा तक पहुंचकर चन्द्रमा को आच्छादित करती, अतः प्रत्येक पूर्णमासी को एक ही तरह का चन्द्रग्रहण होता, किसी पूर्णमासी को अर्द्ध-वृत्ताकार और किसी को पूर्ण-वृत्ताकार न होता। क्योंकि पृथ्वी की छाया प्रत्येक पूर्णमासी को अपनी नियत मर्यादा तक पहुंचती और चन्द्रमा नित्य पृथ्वी के गिर्द अपनी समान चाल से समान दूरी पर घूमता होता, इसलिए प्रत्येक पूर्णमासी को नित्य एक ही तरह का ग्रहण होता,—कभी गोल और कभी अर्द्ध-गोल शक्ल में न होता।

ऐसे ही, यदि अमावास्या को चन्द्रमा के आच्छादन से सूर्यग्रहण माना जाय तो यह भी असम्भव है, क्योंकि ग्रहण के दिन ग्रहण को देखने से ज्ञात होता है कि यदि अधिक से

अधिक समय तक ग्रहण रहे तो भी दो-चार घण्टे तक ही रह सकता है; फिर सूर्य और आच्छादित करने वाले पिण्ड की जुदाई हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि यदि चन्द्रमा से सूर्य आच्छादित होता तो अधिक से अधिक सात-आठ घण्टे में अमावास्या को पृथ्वी से चन्द्रमा दिखाई देना चाहिए था, क्योंकि चन्द्रमा की सूर्य से जुदाई हो जाती है, किन्तु ऐसा नहीं होता। अमावास्या के आरम्भ से चन्द्रमा कम से कम २४ घण्टे से अधिक समय में पृथ्वी से दिखाई देता है। यदि अमावास्या को चन्द्रमा सूर्य को आच्छादित करता तो प्रत्येक अमावास्या को सूर्यग्रहण होता, किन्तु ऐसा भी नहीं होता।

इसलिए चन्द्रमा न पृथ्वी का उपग्रह है न पृथ्वी के गिर्द घूमता है, न सूर्यग्रहण का कारण है और न चन्द्रग्रहण का कारण पृथ्वी की छाया है।

चन्द्रमा इस प्रकार सूर्य की परिक्रमा करता है, जिस प्रकार गर्भवतियों के गर्भ में रज शुक्र की परिक्रमा करता है। चन्द्रमा अपने प्रकाश का आदान सूर्य से ही करता है, जिससे उसमें चन्द्र-कलाओं की वृद्धि होती है। जिन विद्वानों ने चन्द्रमा को पृथ्वी का उपग्रह मानकर सूर्यग्रहण और चन्द्रमा को सिद्ध किया है, उन्होंने राहु और केतु की चालों को चन्द्रमा की चाल माना है, क्योंकि चन्द्रमा और राहु-केतु अपने-अपने क्रान्तिवृत्तों में लगभग एक ही गति के सम्बन्ध से विपरीत घूमते रहते हैं।

सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का नियत समय सिद्ध करने के लिए एवं ग्रहों की चाल को समझने के लिए पृथ्वी को स्थिर मानना पड़ता है तथा पृथ्वी का क्रान्तिवृत्त निश्चित किया जाता है। गणित में पृथ्वी के क्रान्तिवृत्त के अंश, कला और विकला को मानना पड़ता है, क्योंकि ग्रहों के क्रान्तिवृत्त भिन्न-भिन्न हैं और सब ग्रह एक ही क्रान्तिवृत्त में नहीं घूम रहे हैं।

अध्याय १९

पिण्डों का परस्पर सम्बन्ध

आकाश में हमारे सूर्य की तरह अनेक सूर्य बने, हमारी पृथ्वी की तरह अनेक ठोस पिण्ड बने और कितने ही जल के पिण्ड बने। उनमें से असंख्य पिण्ड हमारे सूर्य और पृथ्वी से बड़े और कितने ही उन से छोटे हैं। इस प्रकार समस्त महा-आकाश में असंख्य सूर्य और असंख्य अन्य पिण्ड उत्पन्न हुए।

एक सूर्य जितने पिण्डों पर तेज व प्रकाश डाल सका, उतने ही पिण्ड एक सूर्य के शासन में हो गये। उन सब को एक ब्रह्माण्ड कहा गया। इस भांति अनेक ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए।

सूर्य महा तेज-पुञ्ज पिण्ड है। वह अपने स्थान में बड़ी तेजी से घूमता है। सूर्य के प्रबल आकर्षण से उस के समीपी पिण्डों का खिंचाव उस की ओर होने लगा और वायु अपने बल के प्रभाव से पिण्डों को दूसरी ओर खींचने लगा। इन दोनों प्रबल आकर्षणों के प्रभाव से पृथ्वी आदि पिण्ड आकाश में अपने-अपने नियत स्थानों पर सूर्य की ओर से वायु की ओर घूमने लगे। इस क्रम से पृथ्वी के एक अर्द्ध भाग को सूर्य

अपनी ओर और दूसरे अर्द्ध भाग को वायु अपनी ओर घुमाने लगा, जिससे पृथ्वी आदि पिण्ड दिन-रात के चक्र में घूमने लगे।

पिण्डों का जो अर्द्ध भाग सूर्य के सम्मुख हुआ, उस में प्रकाश एवं तेज पहुंचने से दिन होने लगा और दूसरी ओर के भाग में अप्रकाश एवं अतेज होने से रात्रि होने लगी। इस भांति जितने छोटे-बड़े पिण्ड महाकाश में हैं, उनकी परिधि के हिसाब से उनमें उतने ही छोटे-बड़े दिन-रात होने लगे।

सब पिण्ड अपने-अपने स्थानों में दिन-रात के चक्र में घूमने के अतिरिक्त वायु के प्रबल वेग से फिर वृत्ताकार सूर्य के गिर्द घूमने लगे। इस प्रकार पिण्डों के घुमाव से पक्ष, मास, ऋतु, साल बनने लगे और बराबर इस क्रम से घूमते हुए कालान्तर में सम्वत्सर और युग होने लगे। दैनिक और वार्षिक गतियों के चक्र में घूमने से पिण्डों के विभिन्न प्रकार के गोल आकार बन गये।

महाकाश में सब पिण्ड भिन्न-भिन्न चालों से सूर्यों के गिर्द घूमते हैं। पिण्डों के छोटा-बड़ा होने और उनकी विभिन्न चालों से आकाश में एक विचित्र क्रीड़ा होने लगी। कभी जिस समय एक पिण्ड में दिन होता है तो दूसरे पिण्ड में रात्रि हो जाती है, कभी एक पिण्ड में दिन होता है तो दूसरे पिण्ड में भी दिन हो जाता है और कभी एक पिण्ड में रात्रि होती है तो

दूसरे पिण्ड में भी रात्रि हो जाती है। कभी एक पिण्ड दूसरे पिण्ड के गोलार्ध से छिप जाता है। इस क्रम से पृथ्वी आदि पिण्ड दिन-रात के चक्र में घूमते हैं। जब पृथ्वी का अर्द्ध गोला सूर्य के सम्मुख होता है, तब पृथ्वी के उस भाग में सूर्य के प्रकाश से दिन होता है और पृथ्वी के जिस गोलार्द्ध से सूर्य छिपता है, उसमें पृथ्वी की छाया पड़ने से रात्रि होती है।

पृथ्वी के दिन-रात के चक्र में वृत्ताकार सूर्य के गिर्द घूमने से अर्थात् दैनिक और वार्षिक चालों में घूमने से उस में कभी दिन बड़ा और रात्रि छोटी, कभी रात्रि बड़ी और दिन छोटा तथा कभी दिन-रात बराबर होते हैं। इस क्रम से पृथ्वी अपनी वार्षिक गति में घूमते हुए दो प्रकार के भागों में सूर्य के सम्मुख तपती है। वे भाग वार्षिक गति में घूमते हुए सूर्य से प्रकाश और तेज आदान करने में क्रमशः न्यूनाधिक और बराबर होते रहते हैं।

जिस मौसम में पृथ्वी अपने आधे से अधिक भाग को सूर्य के सम्मुख करती है, उस में दिन बड़े और रात्रि छोटी होती है। पृथ्वी के उस अधिक भाग को सूर्य से विमुख होने अथवा छिपने में समय भी अधिक लगता है, जिससे वह भाग अधिक तप्त हो जाता है। अतएव उस मौसम में पृथ्वी के उस भाग में दिन बड़े होते हैं और उन दिनों गर्मी भी अधिक होती है।

फिर वार्षिक गति में घूमते हुए पृथ्वी का न्यून गोलार्द्ध सूर्य के सम्मुख होता है। वह भाग छोटा होने के कारण सूर्य के सामने से जल्दी हट जाता है, जिससे उस मौसम में पृथ्वी के उस भाग में दिन छोटे और रात्रि बड़ी होती है। उन दिनों गर्मी कम और सर्दी अधिक होती है।

फिर अपनी गति से पृथ्वी के ठीक अर्द्धगोल हिस्से सूर्य के सामने हो जाते हैं। उस मौसम में पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में दिन-रात बराबर होते हैं और सर्दी-गर्मी भी समान होती है। इन्हीं चालों से पृथ्वी बराबर सूर्य के गिर्द घूम रही है।

पृथ्वी की भांति चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि आदि पिण्डों में भी, इन चालों से सूर्य के गिर्द घूमने से, दिन-रात का क्रम बना रहता है। वे सब पिण्ड सूर्य के तेज और प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। पृथ्वी की भांति इन पिण्डों में भी अपना तेज एवं प्रकाश इतना अधिक नहीं है कि वे सूर्य की सहायता के बिना स्वयं ही प्रकाशित हो सकें।

रात्रि का स्वभाव अन्धकारमय होने पर भी पूर्णमासी को पृथ्वी की रात्रि प्रकाशित होती है। इसका कारण यह है कि पूर्णमासी को पृथ्वी के अन्धकारयुक्त रात्रि वाले भाग के सम्मुख चन्द्रमा के अर्द्धगोल में दिन होता है। इसलिए चन्द्रमा के दिन का प्रकाश पृथ्वी की रात्रि के अन्धकार को आच्छादित कर उसे प्रकाशित करता है।

पूर्णमासी को चन्द्रमा के दिन का प्रकाशित गोलार्द्ध पृथ्वी की ओर और रात्रि का अन्धेरा गोलार्द्ध दूसरे पिण्डों की ओर होता है। चन्द्रमा में जो प्रकाश होता है, वह केवल चन्द्रमा का ही प्रकाश नहीं है। वह चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश के योग से उत्पन्न होता है। यदि चन्द्रमा में केवल अपना ही प्रकाश होता तो कृष्ण-पक्ष और शुक्ल-पक्ष की सब तिथियों में पूर्णमासी की तरह चन्द्रमा के पूर्ण-बिम्ब पर प्रकाश होता। परन्तु ऐसा नहीं होता। चन्द्रमा का अर्द्धगोल सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है और अर्द्धगोल, जो सूर्य से विमुख रहता है, उसमें सूर्य के प्रकाश के बिना प्रकाश उत्पन्न नहीं होता। वहां रात्रि बनी रहती है।

अमावास्या को चन्द्रमा का रात्रि वाला अर्द्धभाग पृथ्वी की ओर होता है, अतः उस समय चन्द्रमा पृथ्वी पर प्रकाश नहीं डाल सकता। अमावास्या के उपरान्त प्रतिपदा की रात्रि से प्रतिदिन चन्द्रमा के दिन का पन्द्रहवां भाग पृथ्वी की ओर प्रकाशित होता है, किन्तु प्रतिपदा को, सूर्य के साथ उदय और अस्त होने से, सूर्य के प्रकाश के कारण कभी-कभी चन्द्रमा दिखाई नहीं देता। इसी से वह कभी-कभी प्रतिपदा को अदृश्य ज्ञात होता है।

शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णमासी तक चन्द्रमा के दिन का पन्द्रहवां भाग प्रतिदिन पृथ्वी की ओर प्रकाशित होता रहता है

और पूर्णमासी के दिन पृथ्वी की रात्रि की ओर चन्द्रमा का पूर्ण दिन वाला भाग हो जाता है।

फिर पूर्णमासी की प्रतिपदा से अमावास्या तक चन्द्रमा की रात्रि का पन्द्रहवां भाग प्रतिदिन पृथ्वी की ओर होता रहता है और अमावास्या को चन्द्रमा की पूर्ण रात्रि पृथ्वी की ओर हो जाती है।

पृथ्वी और चन्द्रमा अपने-अपने वृत्ताकार मार्गों में सूर्य के गिर्द एक-दूसरे के विपरीत घूमते हैं।

चन्द्रमा में १५ दिन का शुक्लपक्ष और १५ दिन का कृष्ण-पक्ष होता है, किन्तु पृथ्वी में ६ माह का शुक्लपक्ष (उत्तरायण) और ६ माह का कृष्णपक्ष (दक्षिणायन) होता है।

सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा की चालों से ही दिशाओं का ज्ञान होता है। पृथ्वी के सामने सूर्य के आने की ओर को पूरब दिशा और पृथ्वी से सूर्य छिपने की ओर को पश्चिम दिशा कहा गया है। पृथ्वी के अपने क्रान्तिवृत्त में उत्तरायण घूमने से उत्तर दिशा और दक्षिणायन घूमने से दक्षिण दिशा कही गई। इसी भांति दिशाओं का ज्ञान होता है।

मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि आदि पिण्ड भी पृथ्वी और चन्द्रमा की भांति दोनों चालों से सूर्य के गिर्द घूमते हैं। उनमें भी दिन-रात होने का क्रम जारी है। वे सब पिण्ड सूर्य के तेज से प्रकाशित होते हैं। हमारी पृथ्वी की भांति सूर्य इनमें भी प्रकाश और तेज डालता है। सब पिण्ड अपने-अपने मार्गों

में हमारी पृथ्वी से बहुत दूर हैं, इसीलिए पृथ्वी से बहुत छोटे दिखाई देते हैं।

• जिनको हम तारा या ग्रह कहते हैं, वे कभी उदय और कभी अस्त होते हैं। पृथ्वी और उन ग्रहों की सूर्य के गिर्द घूमने की चालों से जब पृथ्वी के रात्रि वाले अर्द्धगोल के सम्मुख उन ग्रहों के दिन वाले गोलार्द्ध होते हैं, तब वे तारों के रूप में चमचमाते हुए पृथ्वी से दिखाई देते हैं। उस समय वे ग्रह उदय हुए माने जाते हैं। जब पृथ्वी के रात्रि वाले गोलार्द्ध के सम्मुख उन ग्रहों का भी रात्रि वाला ही गोलार्द्ध हो जाता है, तब अन्धकारयुक्त होने से वे पृथ्वी से दिखाई नहीं देते अथवा जब एक पिण्ड से दूसरा पिण्ड अदृश्य हो जाता है, तब वे अस्त हुए माने जाते हैं।

वृहस्पति और शुक्र ग्रहों में कभी-कभी तीन-तीन माह तक पृथ्वी की ओर रात्रि होती रहती है अर्थात् तीन-तीन माह तक पृथ्वी की ओर वृहस्पति और शुक्र का रात्रि वाला भाग रहता है और दिन वाला भाग दूसरे पिण्डों की ओर रहता है। फिर सूर्य के गिर्द पृथ्वी, वृहस्पति और शुक्र के घुमाव से पृथ्वी की रात्रि की ओर वृहस्पति और शुक्र का दिन वाला हिस्सा हो जाता है और कभी पृथ्वी की अर्द्धरात्रि से इन पिण्डों का दिन वाला हिस्सा दिखाई देता है।

इसी भांति पृथ्वी, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र,

शनि ये सब पिण्ड अपनी-अपनी चालों से सूर्य के गिर्द घूमते रहते हैं। इसी से कभी एक ग्रह के दिन वाले हिस्से की ओर दूसरे पिण्ड का रात्रि वाला हिस्सा होता है, कभी एक ग्रह के रात्रि वाले हिस्से के सम्मुख दूसरे पिण्ड का दिन वाला हिस्सा होता है, कभी एक ग्रह की रात्रि के सम्मुख दूसरे ग्रह की रात्रि हो जाती है और कभी एक पिण्ड के अर्द्धगोल से दूसरा पिण्ड छिप जाता है।

सब पिण्ड अपने-अपने मार्गों में एक दूसरे से इतने दूर हैं कि घूमने पर कभी परस्पर टकरा नहीं सकते। इन सब के अपनी-अपनी चालों में घूमने के मार्ग अलग-अलग हैं। किसी का मार्ग सूर्य के समीप है और किसी का दूर है, कोई पिण्ड बहुत बड़े हैं और कोई छोटे हैं। अपनी-अपनी परिधि के हिसाब से इन सब में दिन-रात बड़े और छोटे होते रहते हैं। इन सब पिण्डों का एक साथ घुमाव बड़ा कौतुक-जनक है, मानो वे सब पिण्ड आकाश की क्रीड़ास्थली में परस्पर मिलजुल कर खेल रहे हों।

कभी एक पिण्ड में दिन होता है तो दूसरा उसके सम्मुख रात्रि करता है, कभी एक पिण्ड दूसरे पिण्ड से छिप जाता है, कभी एक सूर्य के उत्तर घूमता है तो दूसरा दक्षिण घूमता है। इस तरह इन सब पिण्डों में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सूर्य के प्रकाश, तेज और आकर्षण के अतिरिक्त इन सब पिण्डों में भी अपना-अपना प्रकाश, तेज और आकर्षण होता

है। सब परस्पर एक दूसरे से अपने-अपने प्रकाश, तेज और आकर्षणों का सम्बन्ध रखते हैं। इन पिण्डों में सूर्य के आकर्षण के अतिरिक्त अपना भी आकर्षण होता है, किन्तु सब में बराबर नहीं होता, किसी में अधिक और किसी में कम होता है। सब पिण्ड सूर्य का प्रकाश और तेज खींचने में अपने-अपने आकर्षणों से बड़ी सहायता पाते हैं।

जिस पिण्ड में अपना जितना ज्यादा आकर्षण होता है, वह उतना ही ज्यादा सूर्य का प्रकाश और तेज अपने ऊपर खींच सकता है। जिसमें जितना अधिक तेज होता है, उसमें उतना ही अधिक आकर्षण होता है। जो जितना छोटा ग्रह है, उसमें उतना ही कम तेज होता है और वह उतना ही कम सूर्य का तेज खींच सकता है, किन्तु जिस ग्रह को जितने तेज एवं प्रकाश की आवश्यकता होती है, उसमें उतना ही तेज एवं प्रकाश होता है। इसलिए हरएक पिण्ड में आकाश, तेज और आकर्षण की आवश्यकता से न्यूनाधिकता नहीं होती।

जिस प्रकार हमारी पृथ्वी में पञ्चतत्त्व हैं और उन तत्त्वों से समस्त प्राप्य वस्तुएं बनी हैं, उसी भांति सब ग्रहों में तत्त्व हैं और उन तत्त्वों से ही वहां की प्राप्य वस्तुएं बनी हैं।

जिस प्रकार हमारी पृथ्वी में जीवधारी हैं और भिन्न-भिन्न

सूरत के हैं, उसी प्रकार सब पिण्डों में जीवधारी हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।

हमारी पृथ्वी में जिस प्रकार पांचों तत्त्व बराबर नहीं हैं, उसी भांति अन्य ग्रहों में भी सब तत्त्व बराबर नहीं हैं। किसी में कोई तत्त्व अधिक है और किसी में कोई तत्त्व कम है अथवा किसी में सुख-सम्बन्धी तत्त्व अधिक; किसी में दुःख-सम्बन्धी तत्त्व अधिक और किसी में सुख-दुःख-सम्बन्धी तत्त्व बराबर हैं।

जिन ग्रहों में सुख-सम्बन्धी तत्त्व अधिक हैं, उन ग्रहों की उन तत्त्वों से बनी हुई वस्तु अधिक सुखदायी हैं, जिन ग्रहों में दुःख-सम्बन्धी तत्त्व अधिक हैं, उन तत्त्वों से बनी हुई उन ग्रहों की वस्तु अधिक दुःखदायी हैं और जिन में सुख-दुःख-सम्बन्धी तत्त्व बराबर हैं, उन ग्रहों में उन तत्त्वों से बनी हुई वस्तु समान सुख-दुःखदाई हैं।

जो पिण्ड जितने बड़े हैं, उनमें उतने ही बड़े दिन-रात होते हैं, उतने ही अधिक सुख-सम्बन्धी तत्त्व एवं प्राप्य वस्तुएं हैं और उन में जीवधारियों की आयु उसी सम्बन्ध से अधिक होती है। जो जितने छोटे पिण्ड हैं, उनमें उतने ही छोटे दिन-रात होते हैं, उन पिण्डों में उतनी ही अधिक दुःख-सम्बन्धी तत्त्व एवं प्राप्य वस्तुएं हैं और उन में जीवधारियों की आयु उसी सम्बन्ध से न्यून होती है।

पृथ्वी, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि इन पिण्डों के अतिरिक्त हमारे सूर्यमण्डल में दो अन्य ग्रह हैं जिनको राहु और केतु के नाम से कहते हैं। ये दोनों पृथ्वी के गिर्द एक-दूसरे से समानान्तर दूरी पर घूमते हैं और दोनों पृथ्वी के संरक्षक हैं। इनमें अपना तेज एवं प्रकाश बहुत कम है। ये अन्य पिंडों की भांति सूर्य के तेज एवं प्रकाश से भी प्रकाशित नहीं होते। इनमें अन्धकार बना रहता है। ये दोनों ग्रह अन्य ग्रहों की अपेक्षा बहुत छोटे हैं और पृथ्वी से बहुत समीप हैं।

इन दोनों ग्रहों में दुःख-सम्बन्धी तत्त्व एवं उन तत्त्वों से बनी हुई वहां की प्राप्य वस्तुएँ विशेष दुःखदाई हैं। अन्य ग्रहों की भांति इन ग्रहों में भी जीवधारी हैं।

राहु गोल पिंड है। केतु मुद्गराकार या मूली के आकार का है। राहु से केतु में कुछ विशेष तेज होता है, इसलिए वह कभी-कभी प्रकाशित हो जाता है और उस समय प्रकाशित होता है, जब पिंड अपने घुमाव की चालों से ऐसे सम्बन्ध में होते हैं कि एक पिंड दूसरे पिंड को अपने तेज और आकर्षण से अपनी ओर खींचने लगता है। पिंडों के इस परस्पर के तेज एवं आकर्षण के खींचातानी-युद्ध से एक पिंड दूसरे के कमज़ोर हिस्सों को अपने ऊपर खींच लेता है। उस समय विशेषतया बलवान पिंड कमज़ोर पिंड के हिस्सों को खींचता है जिससे

पिंडों में उल्कापात होता है। उसी समय केतु ग्रह अपने घुमाव की चालों से, उन ग्रहों के तेज और आकर्षण (बिजली) के बीच होने से, अपने ऊपर सूर्य का प्रकाश खींचने के लिए एक नवीन तेज प्राप्त कर लेता है अथवा पिंडों के तेज के संयोग से और सूर्य के तेज से उस समय केतु ग्रह प्रकाशित होता है। उसको पुच्छल तारा भी कहते हैं। उस समय वह ग्रहों में दुर्भिक्ष और उल्कापात होने की सूचना देता है। वह अन्य ग्रहों की भांति केवल सूर्य के तेज से प्रकाशित नहीं हो सकता। वह तभी प्रकाशित हो सकता है, जब वह अन्य पिंडों के तेज से तेजित होकर सूर्य का प्रकाश और तेज खींचने में समर्थ होता है और उसी समय वह पुच्छल तारे के रूप में दिखाई देता है। ऐसा समय कभी-कभी आता है, क्योंकि ग्रहों के ऐसे सम्बन्ध का कोई नियमित समय नहीं है।

हमारे सूर्यमंडल या ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त आकाश में अनन्त सूर्यमंडल एवं ब्रह्माण्ड हैं जिनको हम सप्त-ऋषि कहते हैं। वे भी सूर्यमंडल या ब्रह्माण्ड हैं। वे हमारे सूर्यमंडल के समीपी ब्रह्मांड हैं। हमारे सूर्यमंडल की तरह सप्त-ऋषि मंडल में भी ग्रह हैं। उस में ८ ग्रह हैं। एक ध्रुवतारा और सात ग्रह सप्तऋषि तारों के नाम से कहे जाते हैं।

ध्रुवतारा उन सप्तग्रहों का सूर्य है। उसके तेज और प्रकाश से वे सप्तग्रह प्रकाशित होते हैं। हमारे सूर्य की तरह ध्रुवतारा भी एक बड़ा तेजपुञ्ज प्रकाशमय सूर्य है। वह अपने नियत

स्थान में बड़ी तेजी से घूमता है। घूमने के कारण वह अपने समीपी पिंडों में सुगमता से तेज एवं प्रकाश डाल सकता है।

• ध्रुवतारा हमारे सूर्यमंडल से बहुत दूर है, परन्तु वह अपने अत्यन्त तेज एवं प्रकाश के कारण हमारी पृथ्वी से दिखाई देता है। 'वह हमारे सूर्य की तरह अपने नियत स्थान पर है, इसलिए पृथ्वी से भी नित्य एक ही स्थान पर दिखाई देता है। पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा ध्रुवतारा बहुत दूर है, इसलिए पृथ्वी के घुमाव से वह सूर्य की तरह घूमता हुआ ज्ञात नहीं होता, एक नियत स्थान में ही दिखाई देता है। ध्रुवतारा पृथ्वी से ठीक उत्तर की ओर है और पृथ्वी आकाश में उस से ६६ अंश दक्षिण को लटकी हुई है।

ध्रुवतारा अपने नियत स्थान पर घूमने वाला एक बड़ा तेजपुञ्ज प्रकाशमय सूर्य है। वह अपने तेज और प्रकाश से सप्तऋषि पिंडों पर प्रकाश व तेज डालता है और अपने तेज एवं आकर्षण से उन सब पिंडों को अपनी ओर खींचे हुए रहता है। वे सातों पिंड ध्रुव-सूर्य के गिर्द घूमते हैं।

वे सब पिंड भी आपस में बराबर नहीं हैं, एक दूसरे में न्यूनाधिकता का अन्तर है। कोई ध्रुव-सूर्य के समीप हैं और कोई दूर हैं। सब अपने-अपने मार्गों में ध्रुव-सूर्य के गिर्द घूमते हैं और एक दूसरे से इतने दूर हैं कि घूमते हुए कोई किसी से टकरा नहीं सकता और न अन्य ब्रह्माण्ड एवं हमारे ब्रह्माण्ड के पिंडों से ही टकरा सकते हैं।

ध्रुवमंडल के ग्रहों में भी तत्त्व एवं उन तत्त्वों से बनी हुई वहां की प्राप्य वस्तुएं होती हैं। उन सब पिंडों में जीवधारी बसते हैं, किन्तु सब पिंडों में तत्त्व, प्राप्य वस्तुएं और जीवधारी एक ही तरह के नहीं होते। पिंडों के सम्बन्ध से उनमें भिन्नता होती है।

इस प्रकार महाकाश में अनन्त पिंड और ब्रह्माण्ड हैं। वे सब एक दूसरे से कुछ न कुछ सम्बन्ध और अन्तर रखते हैं। हम जितने तारे देखते हैं, वे सब पिंड हैं और कई उन पिंडों के सूर्य हैं। पिंडों में कई सूर्य की तरह अग्नि के गोले हैं और कई पृथ्वी, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि की तरह हैं। सूरत और आकार में सब पिंड तरह-तरह के हैं। कितने ही सूर्यादि पिंड गेंद की तरह गोल हैं। पृथ्वी गोल कद्दू के आकार की है, केतु मूली के आकार का है। इसी प्रकार सब पिंड महाकाश में भिन्न-भिन्न बनावट और आकार के हैं।

ध्रुवतारे की तरह पृथ्वी से बहुत से तारे दिखाई देते हैं। वे तारे भी अपने-अपने स्थानों में घूमने वाले सूर्य हैं और अपने समीपी पिंडों में तेज एवं प्रकाश डालते हैं। वे पृथ्वी से बहुत दूर हैं, इसलिए बहुत छोटे दिखाई देते हैं। बहुत से पिंड पृथ्वी से इतनी दूर हैं कि वे दिखाई भी नहीं देते।

महाकाश के पिंडों में कई पिंड तो इतने बड़े हैं कि हमारी पृथ्वी की कितनी ही आयु होने तक उनमें एक दिन

हो सकता है और हमारी पृथ्वी की कितनी ही आयु होने तक उनकी एक रात्रि हो सकती है, परन्तु वे पिंड पृथ्वी से इतने दूर हैं कि दिखाई भी नहीं देते या बहुत छोटे तारों के रूप में दिखाई देते हैं।

हम तारों को जितना छोटा देखते हैं, वे उतने छोटे नहीं हैं। वे सब बड़े-बड़े पिंड हैं। उन पिंडों में बहुत से सूर्य हैं और बहुत से उन सूर्यों के गिर्द घूमने वाले पिंड हैं।

आकाश में असंख्य पिंड होने पर भी उन सब का ऐसा अच्छा प्रबन्ध है कि वे अपने-अपने क्रान्तिवृत्तों में घूमते हुए भी एक-दूसरे से नहीं टकराते और सब एक-दूसरे के आकर्षण पर टिके हैं। जिस तरह सूर्य अपने आकर्षण से अपने पिंडों को अपनी ओर खींचे रहता है, उसी तरह एक ब्रह्माण्ड दूसरे ब्रह्माण्ड को अपनी ओर आकर्षित किये रहता है। आकाश में सब पिंड परस्पर एक दूसरे के आकर्षण से अपने-अपने क्रान्तिवृत्तों में कार्य-प्रवृत्त रहते हैं।

अध्याय २०

वनस्पति-सृष्टि की रचना

पृथ्वी में वनस्पतियों के स्थूल शरीर को उत्पन्न करने वाला रज-रूप गर्भकेशर और चन्द्रमा में शुक्र-रूप परागकेशर होता है। जैसे महावायुमण्डल के कारण चन्द्रमा का प्रकाश पृथ्वी में पहुँचता है, वैसे ही उससे पराग भी महावायुमंडल द्वारा पृथ्वी को प्राप्त होता है।

रज की तरह गर्भकेशर के दो भेद होते हैं,—उत्तरायण में सत्त्वगुणी और दक्षिणायन में तमोगुणी।

पराग के भी दो प्रधान और दो उपभेद होते हैं। पूर्णमासी के पूर्ण प्रकाशित चन्द्रबिम्ब से पूर्ण सत्त्वगुणी शुक्ल पराग और अमावास्या के पूर्ण अन्धकारयुक्त चन्द्रबिम्ब से पूर्ण तमोगुणी काला पराग होता है।

इनके अतिरिक्त शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षों की चौदह तिथियों के चौदह चन्द्रबिम्बों से चौदह प्रकार के रजोगुणी पराग पैदा होते हैं।

वनस्पति-सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी के गर्भकेशर को प्रथम पूर्ण सत्त्वगुणी परागकेशर प्राप्त होता है, क्योंकि सत्त्वगुण

ही सृष्टि रचने का आदि कारण है। फिर पूर्ण तमोगुणी पराग-केशर पृथ्वी के गर्भकेशर को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् १४ तिथियों के १४ चन्द्रबिम्वों से चौदह प्रकार के रजोगुणी पराग-केशर पृथ्वी को प्राप्त होते हैं। उनमें से प्रथम सात प्रकार के रजोगुणी परागकेशरों के योग में क्रमशः सत्त्वगुण अधिक, तमोगुण न्यून और अन्य सात प्रकार के रजोगुणी परागकेशरों के योग में क्रमशः तमोगुण अधिक, सत्त्वगुण न्यून होता है।

जैसे शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की चौदह तिथियों में से सात तिथियों के चन्द्रबिम्वों पर प्रकाश भिन्न-भिन्न सम्बन्ध से अधिक, अन्धकार न्यून और सात तिथियों के चन्द्रबिम्वों पर विभिन्न सात प्रकार से अन्धकार अधिक, प्रकाश न्यून होते हैं, ठीक उसी सम्बन्ध से चौदह प्रकार के रजोगुणी परागकेशरों में सत्त्वगुण और तमोगुण के भेद होते हैं। सत्त्वगुण और तमोगुण के भेदों से और भी असंख्य परागकेशर चन्द्रमा से उत्पन्न होकर पृथ्वी को प्राप्त हुए।

जलतत्त्व से संयुक्त पृथ्वी में गर्भकेशर उत्पन्न होता है। गर्भकेशर चिपकदार होता है, जैसे मिट्टी जल से संयुक्त होने पर चिपकदार होती है। पराग चिपकदार नहीं होता, उसमें उड़ने वाला खुरखुरापन होता है जिससे वायु उसको सुगमता से उड़ा सकता है।

वनस्पतियों की उत्पत्ति के आरम्भकाल में पृथ्वी के जल-

स्थलसंयुक्त पंक स्थान में सर्वप्रथम गर्भकेशर उत्पन्न हुआ और वहाँ चन्द्रमा के पूर्ण प्रकाश के साथ पूर्ण सत्त्वगुणी परागकेशर वायुमण्डल से उड़कर गर्भकेशर में संयुक्त हो गया। पश्चात् अमावास्या के पूर्ण अन्धकारयुक्त चन्द्रबिम्ब से पूर्ण तमोगुणी पराग महावायुमण्डल से उड़कर पृथ्वी के गर्भकेशर को प्राप्त हुआ। फिर शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की चौदह तिथियों के प्रकाश-अप्रकाश-संयुक्त चौदह प्रकार के रजोगुणी चन्द्रबिम्बों से चौदह प्रकार के रजोगुणी पराग वायु द्वारा पृथ्वी के गर्भकेशर को प्राप्त हुये। इसी तरह चन्द्रमा से पैदा होने वाले अन्य अनन्त पराग पृथ्वी को प्राप्त हुये।

वनस्पति-सृष्टि के आरम्भ में गर्भकेशर के चिपकदार परमाणुओं को पराग के परमाणु प्राप्त होने पर इन दोनों के योग से एक तरह की वनस्पति-उत्पादन-शक्ति उत्पन्न होती है। वह शक्ति आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी तत्त्व की सहायता से वनस्पति-अवस्था को प्राप्त होती है।

वनस्पति-अवस्था में पराग का भाग गर्भकेशर के सत्त्वगुणी अंश को ग्रहण कर अंकुर-रूप में पैदा होकर पृथ्वी से ऊपर महावायुमण्डल में चन्द्रमण्डल की ओर बढ़ने और फैलने लगता है और गर्भकेशर का भाग पराग के तमोगुणी अंश को ग्रहण कर जड़ के रूप में पृथ्वी के अन्दर बढ़ता और फैलता है। पराग और गर्भकेशर, जो संयुक्त होने से पहले अदृश्य होते हैं, वे पञ्चतत्त्व की सहायता से अंकुर और जड़ के रूप में पैदा होकर

बनस्पति के रूप में दृश्यमान हो जाते हैं। जैसे पीछे बीजों से पैदा होने वाली वनस्पतियों के तने और जड़ों के भाग उत्पन्न होकर, तने पृथ्वी से ऊपर महावायुमण्डल की ओर और जड़ें पृथ्वी के अन्दर बढ़ती और फैलती हैं, ठीक इसी तरह वनस्पति-सृष्टि के आरम्भ में (संयुक्त पराग और गर्भकेशर के) पराग भाग से तने की और गर्भकेशर भाग से जड़ की उत्पत्ति होती है।

वनस्पतियों के तने चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाले परागों की शक्ति से उत्पन्न होते हैं, इसलिए तने के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की रचना पञ्चभूतों की सहायता से पृथ्वी से ऊपर चन्द्रमण्डल की ओर होती है, जिससे तनों का सर्वाङ्ग पृथ्वी से ऊपर बढ़ता और फैलता है। जड़ का भाग पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले गर्भकेशर की शक्ति से पैदा होता है, इसलिए वनस्पतियों की जड़ें पृथ्वी में सम्मिलित पञ्चभूतों की सहायता से पृथ्वी के अन्दर बढ़ती और फैलती हैं।

जैसे पिण्डजों के शरीर चौदह-लोक-रचना से बनते हैं वैसे ही वनस्पतियाँ भी चौदह-लोक-रचना से उत्पन्न होती हैं अथवा जैसे चन्द्रमा चौदह तिथियों में भ्रमण करता है, वैसे ही पराग वनस्पतियों के विस्तार को चौदह प्रकार की लोक-कलाओं से विकसित करके उनमें भ्रमण करता है।

सत्त्वगुणी सप्त लोकों के विस्तार में वनस्पतियों के तने

और तमोगुणी सात लोकों के विस्तार में उनकी जड़ें पैदा होती हैं। जड़ की रचना में तमोगुण की अधिकता के कारण ही उसका नाम जड़ है।

वनस्पतियों के तने के भाग का विकास सप्तलोकों की सत्त्वगुणी सात प्रकार की कलाओं से इस प्रकार होता है:—भूलोक-कला से तना, भुवःलोक-कला से टहनियां, स्वःलोक-कला से कोंपल, महःलोक-कला से पत्ते, जनःलोक-कला से पुष्प, तपःलोक-कला से फलों का गूदा और सत्यलोक-कला से बीज की उत्पत्ति होती है।

जड़ के भाग का विकास तमोगुणी सप्तलोकों की सात प्रकार की कलाओं से इस प्रकार होता है:—अतल-लोक-कला से जड़ का विस्तार, वितल-लोक-कला से रेशे (जड़ के मुँह), सुतल-लोक-कला से जड़ का जलकोष, तलातल-लोक-कला से जड़ का वायुकोष, महातल-लोक-कला से जड़ का गंधकोष, रसातल-लोक-कला से जड़ का तेज और पाताल-लोक-कला से चन्द्रमा (जो कि कन्दवाली वनस्पतियों की कन्दों में पराग अर्थात् बीज की शक्ति के रूप में रहता है) की उत्पत्ति होती है।

जैसे माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाले प्राणियों की शरीर-बनावट में माता के शरीर में सम्मिलित पञ्चभूतों के योग से प्रथम सिर की रचना उत्पन्न होती है, वैसे ही पृथ्वी के गर्भ

में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियां की उत्पत्ति में (पृथ्वी में सम्मिलित पञ्चभूतों के योग से) प्रथम 'अंकुर-रूप तने की रचना उत्पन्न होती है और तब जड़ की, किन्तु साधारण दृष्टि से प्रथम जड़ की और तब अंकुर की उत्पत्ति प्रतीत होती है।

जड़ की अन्तिम सीमा में वनस्पति को जागृत करने वाला परागकेशर का कुछ सत्त्वगुणी अंश होता है। वह अपने प्रभाव से पृथ्वी के गर्भकेशर द्वारा उत्पन्न होने वाली जड़ों में जो पार्थव्य-वायुतत्त्व होता है, उसकी रजोगुणी शोषण-शक्ति से पृथ्वी में सम्मिलित वायु को, (जिसमें रस, गन्ध और पृथ्वी के सूक्ष्म अंश तेज सहित घुलकर मिले होते हैं), शोषता है। जड़ का वायु भूगर्भ से रस, गन्ध और तेज को शोषकर वनस्पतियों की जड़ों में पहुँचाता है और वहां से वे जड़ के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में होते हुए तने के अङ्गों-प्रत्यङ्गों में पहुंचते हैं, जिनसे तने के सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग वायुमण्डल की ओर बढ़ते और फैलते हैं।

जड़ का शोषणवायु तने में पहुंच कर तने के सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गों यानी छाल, टहनियों, कलियों, पत्तों, पुष्पों और फलों में शोषण-शक्ति उत्पन्न करता है, जिससे ये सब अपना स्पर्श करने वाले वायु को शोषकर उस के द्वारा उन रस, प्रकाश, तेज, गन्ध और परागों को ग्रहण कर पुष्ट होते हैं, जो कि वनस्पतियों को स्पर्श करने वाले महावायुमण्डल में पहले से मिले होते हैं। ये वनस्पतियों के तने के भाग में पहुँचकर तने

के सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गों में भ्रमण करते हुए जड़ के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में पहुंचते हैं। इन्हीं से तने और जड़ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़ बनकर बढ़ते और फैलते हैं।

वनस्पतियां जड़ों के द्वारा भूगर्भ से और तनों के द्वारा महावायुमण्डल से जिन रस, गन्ध, पृथ्वी के सूक्ष्म अणु, तेज और परागों को ग्रहण करती हैं, वे उनके खाद्य पदार्थ हैं।

जड़ का वायु, जड़ और तने के अङ्गों-प्रत्यङ्गों में भ्रमण कर दूषित होने पर तने की छाल के अवयवों द्वारा निकलकर महावायुमण्डल में मिल जाता है और तने का वायु तने और जड़ के अङ्ग-प्रत्यंगों में घूमकर दूषित होने पर जड़ की छाल के अवयवों द्वारा बाहर निकल कर भूगर्भ-वायु में मिल जाता है।

वनस्पतियों के तने का भाग महावायुमण्डल से स्पर्श होने वाले वायु को दिन भर शोषता है और जड़ का भाग उस वायु को दूषित होने पर पृथ्वी के अन्दर त्यागता है। किन्तु रात्रि को जड़ का भाग भूगर्भ से पृथ्वी में सम्मिलित वायु को शोषता है और तने का भाग उसको दूषित होने पर महावायुमण्डल में फेंकता है।

हमारी तरह वनस्पतियाँ हर समय सांस नहीं लेतीं और छोड़तीं। वे तनों के द्वारा दिन भर वायु शोषती हैं और रात्रि भर उन्हीं के द्वारा बाहर फेंकती हैं। जड़ों के द्वारा रात्रि भर पृथ्वी से वायु शोषती हैं और दिन भर उन्हीं के द्वारा बाहर फेंकती हैं।

पृथ्वी के अन्दर जहां वनस्पतियों की जड़ें होती हैं, वहाँ तेज रस को पतला बनाता है। उस पतले रस में मिट्टी के अणु घुलकर मिले होते हैं। वनस्पतियों की जड़ें उस रस को सुगमता से शोष लेती हैं।

महावायुमण्डल तेज के कारण जल को भाप द्वारा और पृथ्वी के सूक्ष्म अंश गन्ध को ग्रहण कर वनस्पतियों के तनों के विस्तार में पहुंचाते हैं, जिनको वे अपने अवयवों द्वारा शोषकर ग्रहण करती हैं। वनस्पतियों की जड़ और तनों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में विचरने वाला रस जल से उत्पन्न होता है। पार्थिव्य-तत्व से जड़-तनों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में स्थूलपन और गन्ध पैदा होती है। पृथ्वीतत्त्व जल में घुलकर वायु के कारण जड़ और तनों के सारे अंग-प्रत्यंगों में पहुंचकर उनको पुष्ट करता है।

परागकेशर से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों के तने के भाग में तना, टहनियाँ, कोंपलें, पत्ते, पुष्प, फल और बीज पैदा होते हैं। किन्तु जड़ें पृथ्वी की गर्भकेशर से उत्पन्न होने के कारण एक ही अवस्था में बढ़ती हैं। उनमें तने की भांति कोंपल, पत्ते और पुष्प नहीं होते।

जड़ें एक ही अवस्था में बढ़कर अपने सप्त-लोकों के विस्तार में सात प्रकार की कलाओं से युक्त होती हैं अर्थात् (१) जड़ का विस्तार, (२) जड़ के रेशे, (३) जड़ का जलकोष,

(४) जड़ का वायुकोप, (५) जड़ का गन्धकोष, (६) जड़ का तेजकोष और (७) जड़ की उत्पादन-शक्ति (पराग अथवा बीज की शक्ति)।

उत्पत्तिकाल में वनस्पतियाँ तने और जड़ के सर्वांगों में इस तरह उत्पन्न होती हैं:—अतल लोक में जड़ का विस्तार, भूलोक में तने का, वितल लोक में जड़ के रेशे, भुवः लोक में तने की टहनियाँ, सुतल लोक में जड़ का जलकोप, स्वः लोक में तने की कोंपलें, तलातल लोक में जड़ का वायुकोप, महः लोक में तने पर पत्तियाँ, महातल लोक में जड़ का गन्धकोष, जनः लोक में तने पर पुष्प, रसातल लोक में जड़ में तेजकोष, तपः लोक में तने पर फल में रसदार गूदा, पाताल लोक में जड़ में चन्द्रमा (पराग, जो कन्द वाली वनस्पतियों की कन्दों में बीज रूप से रहता है) और सत्य लोक में तने पर बीज पैदा होते हैं। बीज में जो उत्पादन शक्ति होती है, वह भी उसको पराग से प्राप्त होती है।

वनस्पतियों की जड़ों का स्थूलपन उत्पन्न होने पर तनों का स्थूलपन उत्पन्न होता है। जड़ के रेशे उत्पन्न होने पर तने पर टहनियां, जड़ में जलकोष बनने पर तने में कोंपलें और जड़ में वायुकोष बनने पर तने पर पत्तियां उत्पन्न होती हैं, इसलिए पत्तियों में वायुशोषण की शक्ति अधिक होती है। जड़ में गन्धकोष बनने पर तने पर पुष्प उत्पन्न होते हैं, इसलिए

पुष्पों में गन्ध उत्पन्न होती है। जड़ में तैजकोष बनने पर तने में फल के गूदे में रस की परिपक्व अवस्था उत्पन्न होती है। जड़ में परागकेशर की परिपक्व अवस्था से तने में बीज की उत्पादन-शक्ति पैदा होती है।

गुणों के कारण जैसे परागों के मुख्य चार प्रकार के भेद बताये गये हैं, वैसे ही रूप-रंग से भी उनमें चार प्रकार के प्रधान भेद होते हैं। जो पूर्णमासी का पूर्ण प्रकाशयुक्त सत्त्व-गुणी पराग होता है, उसका शुक्ल रूप होता है। जो अमावास्या का अन्धकारयुक्त तमोगुणी परागकेशर होता है, उसका काला रूप होता है। जो शुक्लपक्ष के अधिक प्रकाश और न्यून अप्रकाशयुक्त रजोगुणी पराग होता है, उसका रूप पीला होता है और जो कृष्णपक्ष के अधिक अप्रकाश और न्यून प्रकाशयुक्त रजोगुणी पराग होता है, उसका लाल रूप होता है।

किन्तु पराग का साधारण रूप पीला होता है और गर्भकेशर का साधारण रूप पृथ्वी जैसा मटियाला होता है। गर्भकेशर के उस मटियाले रंग के भी सफ़ेद और काले दो भेद होते हैं।

पराग और गर्भकेशर के रूपों के योग से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का रूप-रंग इस तरह उत्पन्न होता है—सफेद, काला, पीला और लाल। इन चार प्रकार के रंगों से समस्त वनस्पतियों की उत्पत्ति के समय उनकी जड़ों के रंग—किसी का शुक्ल, किसी का काला, किसी का पीला और

किसी का लाल—मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं। इन चारों रंगों के गर्भकेशर के मटियाले रंग से कुछ काल पश्चात् आच्छादित होने पर सब वनस्पतियों की जड़ों की बाहरी छाल का रंग पृथ्वी जैसा ही हो जाता है।

वनस्पतियों के तने के रंग भी जड़ों की भांति, उत्पत्तिकाल में पराग के रंगों की तरह चार प्रकार के ही होते हैं अर्थात् सफ़ेद, काले, पीले और लाल। उत्पत्ति के कुछ काल पश्चात् सब प्रकार के तनों की बाहरी छाल का रंग, गर्भकेशर के मटियाले रंग से आच्छादित होकर, पृथ्वी जैसा हो जाता है। किन्तु जड़ों और तनों की छालों के मटियाले रंग के साथ परागों के चार प्रकार के रंग सम्मिलित होने से किसी के जड़ और तने की छाल का रंग सफ़ेद मटियाला, किसी के जड़-तने की छाल का रंग काला-मटियाला, किसी के जड़-तने की छाल का रंग पीला-मटियाला और किसी के जड़-तने की छाल का रंग लाल-मटियाला होता है।

इस प्रकार वनस्पतियों की छालों के अन्दर जो काष्ठ होते हैं, उनके रंग भी चार प्रकार के होते हैं अर्थात् शुक्ल पराग से उत्पन्न काष्ठ का रंग सफ़ेद, काले पराग से उत्पन्न काष्ठ का रंग काला, पीले पराग से उत्पन्न काष्ठ का रंग पीला और लाल पराग से उत्पन्न काष्ठ का रंग लाल होता है।

सब प्रकार के रंगों वाले काष्ठ में गर्भकेशर का मटियाला रंग सम्मिलित होता है।

वनस्पतियों के अन्य अंग-प्रत्यङ्गों से. जड़, तने और टहनियों में पृथ्वी तत्त्व अधिक होता है, इसलिए उनमें अन्य अंग-प्रत्यङ्गों की अपेक्षा पृथ्वी का अधिक रंग आता है। पराग का रंग इनमें न्यूनता से सम्मिलित रहता है।

टहनियों में प्रथम कोंपलें पैदा होती हैं। कोंपलों के रंगों में भी गर्भकेशर का रंग पराग के रंग से कुछ अधिक होता है, इसलिए कोंपलें कोई सफ़ेद मटियाले रंग वाली, कोई काले मटियाले रंग वाली, कोई पीले मटियाले रंग वाली और कोई लाल मटियाले रंग वाली होती हैं।

कोंपलों के पश्चात् उनमें पत्तियां उत्पन्न होती हैं। उनका रंग गर्भकेशर के तमोगुणी काले रंग और पराग के साधारण पीले रंग के योग से हरा होता है। पत्तियों के रंग में पराग और गर्भकेशर के रंगों की समानता होती है, इसलिए काले और पीले रंगों के समान योग से उनमें हरा रंग आता है।

पत्तियों के हरेपन में भी पराग चार प्रकार के रङ्गों के भेद से किसी वनस्पति में सफेद हरियाली वाली, किसी में काली हरियाली वाली, किसी में पीली हरियाली वाली और किसी में लाल हरियाली वाली पत्तियां होती हैं। वायु तत्त्व की अधिकता के कारण वनस्पतियों के अन्य अङ्गों से पत्तियों में वायु-शोषण की शक्ति विशेष होती है।

वनस्पतियों में पत्तियों की उत्पत्ति के पश्चात् पुष्प उत्पन्न होते हैं। उनके रङ्गों में पराग का रङ्ग अधिक और गर्भकेशर का रङ्ग न्यून हो जाता है। पराग के रङ्गों की तरह पुष्प-सृष्टि में भी मुख्य चार प्रकार के रंग होते हैं। सफेद पराग वाले बीजों से उत्पन्न होने वाले पुष्पों का रंग सफेद, काले पराग वाले बीजों से उत्पन्न होने वाले पुष्पों का रंग काला, पीले पराग वाले बीजों से उत्पन्न होने वाले पुष्पों का रंग पीला और लाल पराग वाले बीजों से उत्पन्न होने वाले पुष्पों का रंग लाल होता है। पुष्प-सृष्टि में अन्य रंग इन्हीं रंगों के योग-भेद से पैदा होते हैं। बीजों में जैसे रंग वाले पराग होते हैं, पुष्पों में वैसे ही रंग आते हैं।

सब प्रकार के पुष्पों में पराग के साथ जो गर्भकेशर रहता है, यद्यपि उसका रंग पुष्पों में पराग के रंगों के साथ न्यून मात्रा में रहता है तथापि वह पुष्पों में गन्ध गुण धारण करता है।

गर्भकेशर के दो रंगों की तरह पुष्पों में गन्ध के भी सुगन्ध और दुर्गन्ध दो भेद होते हैं। जिन पुष्पों में गर्भकेशर की सत्त्वगुणी गन्ध होती है, उनमें सुगन्ध और जिनमें तमोगुणी गन्ध होती है उनमें दुर्गन्ध होती है। जब जड़ के भाग में गन्ध-कोष बनता है, तब तने के भाग में पुष्प पैदा होते हैं। वनस्पतियों की जड़, तने के भाग में विचरने वाला वायु जड़ के

गन्ध-कोष से गन्ध-भेदों को पुष्पों में पहुंचाता है, जिससे पुष्पों में गन्ध पैदा होती है।

गन्ध और रंगों के अतिरिक्त पुष्पों पर बीजों में रचना-भेद से पराग और गर्भकेशर समान होते हैं। पराग और गर्भकेशर, जो वनस्पतियों की उत्पत्ति में तनों और जड़ों में पृथक्-पृथक् विभाजित हो जाते हैं, वे पुष्पों में संयुक्त होकर वनस्पति-उत्पादक बीजों की रचना करते हैं अर्थात् पुष्पों में बीज बनते हैं। पराग और गर्भकेशर के भेदों से वनस्पति-सृष्टि में पुष्प चार प्रकार के होते हैं। पराग और गर्भकेशर के भेद से तीन प्रकार के पुष्पों में बीजों की रचना होती है और चौथे प्रकार के पुष्पों में बीज पैदा नहीं होते।

प्रथम वर्णन हो चुका है कि गर्भकेशर पृथ्वी तत्त्व में होता है, इसलिए जिन पुष्पों में गर्भकेशर होता है, वे फलयुक्त होते हैं। फल को पृथ्वी का सूक्ष्म रूप समझना चाहिए। दूसरे प्रकार के पुष्प जिनमें पराग होता है, वे फलयुक्त नहीं होते। उनके अंदर किसी पर एक तरह के रेशे और किसी पर एक डण्ठल-सा होता है। जिनमें खुरखुरे अणु होते हैं, उन्हीं को पराग कहते हैं। गर्भकेशर और परागकेशर वाले दोनों प्रकार के अलग-अलग पुष्पों में से गर्भकेशर वाले पुष्पों में ही पराग-केशर संयुक्त होने से बीजों की रचना होती है।

परागकेशर के अणु खुरखुरे होने से वायु में सुगमता से

उड़ सकते हैं। इसलिए उनके परमाणु वायु में उड़कर गर्भकेशर-युक्त पुष्पों की गर्भकेशर में जा मिलते हैं या पुष्पों से रस लेने वाले भ्रमर, मधुमक्खी या अन्य मक्खियों के अङ्गों में लिपटकर उनके द्वारा गर्भकेशर के पुष्पों में पहुँचते हैं। वायु अथवा मक्खियों द्वारा परागकेशर के गर्भकेशर वाले पुष्पों में पहुंचने पर गर्भकेशर परागकेशर में लिपट जाता है। लिपटने से पुष्पों में उत्पन्न होने वाले फलों के अन्दर दोनों धीरे-धीरे समा जाते हैं और उन के अन्दर बीजों की रचना करते हैं। उनके पुष्पों के अन्दर समाने पर पुष्प मुरझाने लगते हैं और मुरझाते हुए वे थोड़े समय में नष्ट हो जाते हैं। पुष्पों के मुरझाने के साथ-साथ फल और बीजों की रचना आरम्भ हो जाती है। जिन फलदार पुष्पों की गर्भकेशर में परागकेशर किसी प्रकार नहीं पहुंचता, उन पुष्पों में फल और बीज की क्रिया नहीं हो सकती। ऐसे फूल बिना फलों के ही नष्ट हो जाते हैं।

वनस्पतियों में परागकेशर और गर्भकेशर के भेदों वाले सबसे बड़े पुष्प कद्दू के होते हैं। कद्दू के एक प्रकार के पुष्प गर्भकेशर और दूसरे प्रकार के परागकेशरयुक्त होते हैं। गर्भकेशर वाले पुष्प फलों में होते हैं। उनके अन्दर चिपकदार केशर होता है और जो परागकेशर वाले पुष्प होते हैं, वे फलों में नहीं होते। उनके अन्दर एक लम्बा-सा डण्ठल होता है, जिस पर छोटे-छोटे पीले रंग वाले खुरखुरे अणु होते हैं। उन्हीं को पराग कहते हैं।

जब परागकेशर पुष्पों से वायु अथवा भ्रमर या मधुमक्खियों द्वारा गर्भकेशर वाले पुष्पों में पहुंचता है, तब गर्भकेशर परागकेशर को ग्रहण कर पैदा होने वाले फलों में समाता है और उनके अन्दर ये दोनों बीजों के रूप में धीरे-धीरे बढ़कर उत्पादनशक्ति बनते हैं। फलों के अन्दर जैसे-जैसे बीजों की रचना होती है, वैसे ही वैसे फल भी बढ़ते रहते हैं। वनस्पतियों के तनों और जड़ों में विचरने वाले परागकेशर और गर्भकेशर धीरे-धीरे फलों के अन्दर समाकर बीजों में उत्पादन-शक्ति बनते हैं। फलों के परिपक्व होने पर बीजों में परिपूर्ण उत्पादन शक्ति हो जाती है।

कद्दू के अतिरिक्त भुजेला (पेठा), ककड़ी, गोदड़ी, खरबूज, तरबूज इत्यादि अनेक वनस्पतियों में परागकेशर और गर्भकेशर वाले दो प्रकार के पुष्प होते हैं। उनमें भी कद्दू के पुष्पों की क्रिया की भांति फलों में बीजों की उत्पत्ति होती है। उनके फलों के परिपक्व होने पर बीजों में पूर्ण उत्पादन-शक्ति होती है।

वनस्पति-सृष्टि में अधिक वनस्पतियां ऐसी हैं, जिनमें परागकेशर और गर्भकेशर वाले भिन्न-भिन्न दो तरह के पुष्प नहीं होते, किन्तु उनमें एक ही प्रकार के पुष्पों में परागकेशर और गर्भकेशर को धारण करने वाले दो भाग होते हैं। ऐसे पुष्पों के अन्दर एक प्रकार के रेशे होते हैं। किसी के अन्दर कई बारीक रेशे होते हैं और किसी के अन्दर एक मोटा-सा डण्ठल

होता है। उन सब प्रकार के रेशों के सिरे के भाग में पराग-केशर होता है और उन के नीचे के भाग में पुष्पों के अन्दर गर्भकेशर होता है। ऐसे पुष्प प्रायः फलदार होते हैं। उन पुष्पों के पूरा खिलने पर रेशों के सिरे के भाग में परागकेशर के खुरखुरे अणु तैयार हो जाते हैं और उनकी जड़ों के भाग में पुष्पों के अन्दर गर्भकेशर में पूर्ण चिपकदारपन तैयार हो जाता है।

उस अवस्था में वायु की टक्करों या मक्खियों के कारण रेशों के सिर के भाग से पराग गिरकर पुष्पों के अन्दर गर्भ-केशर से संयुक्त होता है। वे दोनों फल के अन्दर समाकर फलों की परिपक्व अवस्था तक धीरे-धीरे बीजों की रचना करते हैं और फलों को रसीला बनाते हैं। गर्भकेशर और परागकेशर के जो सत्त्वगुण अंश वनस्पतियों की जड़ों और तनों के अङ्ग-प्रत्यंगों में रस के साथ भ्रमण करते हैं, वे फलों में पहुँचकर बीजों की उत्पादन-शक्ति बनते हैं। बीजों में पूर्ण उत्पादन-शक्ति पैदा होने तक वे रस के साथ फलों में आकर उनको भी रसीला बनाते हुए बढ़ाते रहते हैं। बीजों की उत्पादन-शक्ति फलों को परिपक्व करती है। वनस्पतियों के सर्वांग से फलों में रस आकर बीजों का इस तरह पोषण करता है, जैसे माता के सर्वांग से रसरूपी दूध स्तनों में जमा होकर बच्चे का पोषण करता है।

सन, खुमानी, आड़ू, अनार, केला, सेब, नाशपाती, सरसों,

गेहूँ, जौ, धान, राई, मण्डुवा, लाई इत्यादि बहुत सी वनस्पतियों में इसी प्रकार के पुष्प पैदा होते हैं। इन सब पुष्पों में रेशे व डण्ठल होते हैं, जैसे सन के पुष्प के अन्दर एक मोटा-सा डण्ठल होता है। शेष वनस्पतियों के पुष्पों में रेशे होते हैं, जिनके सिर के भाग में परागकेशर होता है। उन रेशों की जड़ों के भाग में पुष्पों के अन्दर गर्भकेशर होता है। पुष्पों के पूरा खिलने पर परागकेशर गिरकर गर्भकेशर से मिल जाता है। इन दोनों के संयोग से सब वनस्पतियों में फल और बीज पैदा होते हैं।

गोभी, मूली, प्याज, जवास, गुलाब और गेंदा में भी इसी प्रकार के पुष्प होते हैं। इनमें भी परागकेशर और गर्भकेशर की उपरोक्त क्रिया से बीज पैदा होते हैं।

जिन वनस्पतियों में छोटे-छोटे पुष्पों के झुण्ड (बौर) होते हैं, उनमें भी गर्भकेशर और परागकेशर के दो स्थान विद्यमान रहते हैं। उन पुष्पों के अन्दर बारीक रेशों के शिर के भाग में परागकेशर और उनकी जड़ों में पुष्पों के अन्दर गर्भकेशर होता है। परागकेशर और गर्भकेशर के संयोग से उनमें फल और बीज पैदा होते हैं। इसी प्रकार आम, अखरोट के पुष्पों के झुण्ड में भी परागकेशर और गर्भकेशर के दो भेद होते हैं, जिनके योग से उनमें फल व बीज पैदा होते हैं।

वनस्पति-सृष्टि में कुछ वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनमें केवल परागकेशरयुक्त पुष्प होते हैं, गर्भकेशर वाले पुष्प नहीं होते।

गर्भकेशर ऐसी वनस्पतियों के तनों के सर्वाङ्ग में भ्रमण करता है। तने के अन्दर विचरने वाला वायु ऐसी वनस्पतियों के पुष्पों से परागकेशर को रस द्वारा खींचकर उनकी गाँठों में ठहराता है। वहाँ परागकेशर के गर्भकेशर से संयुक्त होने पर बीजों की रचना होती है। उदाहरणार्थ मक्की के पौदों के सिर पर एक प्रकार की बाल सी होती है, उसमें परागकेशर वाले पुष्प लगते हैं, जिनमें पराग होता है, किन्तु उनमें गर्भकेशर नहीं होता। गर्भकेशर मक्की के पौदों के सर्वाङ्ग में भ्रमण करते हुए बाल में पुष्प उत्पन्न होने की अवधि पर मक्की के पौदों की गाँठों में एकत्रित होता है।

मक्की के पौदों की जिस गाँठ में अधिक गर्भकेशर एकत्रित होता है, तनों में विचरने वाला वायु वहाँ पुष्पों से रस द्वारा पराग-केशर को खींचकर गर्भकेशर से संयुक्त करता है। जिन गाठों में परागकेशर और गर्भकेशर संयुक्त होते हैं, उनमें पराग वाले पुष्पों के डण्ठलों की भांति लकड़ी के एक प्रकार के डण्ठल पैदा होते हैं, जिन पर परागकेशर और गर्भकेशर के योग से अनेक बीजों की उत्पत्ति होती है।

उन बीजों के साथ एक प्रकार के रेशे भी पैदा होते हैं। वे डण्ठल के अन्दर से पैदा होकर बाहर वायुमण्डल तक सम्बन्ध रखते हुए बीजों को पुष्ट करने में सहायक होते हैं। यदि मक्की के पौदों की एक ही गांठ पर पराग और गर्भकेशर संयुक्त हो

तो उस गांठ पर लकड़ी का एक डण्ठल-सा पैदा होता है और उसमें बीज पैदा होते हैं। यदि मक्की के पौदों की दो या तीन गांठों में परागकेशर और गर्भकेशर संयुक्त हों तो उन सब गांठों में डण्ठल पैदा होंगे और उन सब डण्ठलों पर बीज पैदा होंगे। मक्की के किसी पौदे की बाल में पराग और गर्भकेशर का योग होने से बाल में भी बीज पैदा हो जाते हैं।

वनस्पति-सृष्टि में कुछ ऐसी वनस्पतियाँ हैं, जिनके पुष्पों में न परागकेशर होता है और न गर्भकेशर, उनमें केवल गन्ध पैदा होती है। ऐसे पुष्पों में बीज उत्पन्न नहीं होते, जैसे—जई, चमेली इत्यादि। इनके पुष्पों में न तो परागकेशर होता है, न गर्भकेशर, केवल वे गन्धयुक्त होने से सुगन्धित होते हैं। इनमें बीज पैदा नहीं होते और न इनके अन्दर रेशे होते हैं। परागकेशर और गर्भकेशर इन वनस्पतियों के तनों और जड़ों के अङ्गों में होते हैं, इसलिए इनकी जड़ों और टहनियों में बीज की तरह वृक्ष बनने की शक्ति होती है।

बहुत-सी वनस्पतियां ऐसी हैं जिनकी कन्दों में बीज की शक्ति होती है और तने के भाग में पुष्प होते हैं, जैसे हल्दी। इसकी कन्दों में बीज की शक्ति और तने के भाग में पुष्प होते हैं। इसमें न परागकेशर होता है, न गर्भकेशर और न बीज होते हैं।

सृष्टि में कुछ वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिन में न तो पुष्प होते

हैं और न फल, जैसे ईख। इस में न तो पुष्प होते हैं और न फल। बीज की शक्ति ईख की गाँठों में और गूदे का रस तने के सर्वांग में होता है।

कई वनस्पतियों में पुष्प नहीं होते, किन्तु उनके तने के भाग में फल और बीज पैदा होते हैं, जैसे अञ्जीर, गूलर, पीपल और तिमला इत्यादि। इन में फल होते हैं और फलों के अन्दर बीज होते हैं, मगर पुष्प नहीं होते। इनके तनों के भाग में विचरने वाला जो रस होता है, उसमें परागकेशर और गर्भ-केशर संयुक्त रहते हैं। प्रायः इनके रस का रंग सफेद और चिपकदार होता है। सफेद रंग वाला पराग होता है और चिपकदार गर्भकेशर। इन दोनों की उत्पादन-अवधि में वृक्षों से फलों की उत्पत्ति होती है और फलों की परिपक्व अवस्था में उनके अन्दर बीजों में उत्पादन-शक्ति पैदा होती है। इन वनस्पतियों के तने के हिस्से में जहाँ रस बाहर की ओर रचना करता है, वहीं फल पैदा होते हैं।

परागकेशर और गर्भकेशर के योग से पुष्पों में फल उत्पन्न होते हैं। वृक्षों के अङ्गों में घूमने वाला रस फलों में एकत्रित होता है। फलों की शक्ल गर्भकेशर से बनती है। उनको एक तरह की सूक्ष्म पृथ्वी समझना चाहिए। जैसे महा पृथ्वी के जल-संयुक्त स्थानों में पहिले गर्भकेशर पैदा होता है, उसी प्रकार फलों के रस-युक्त गूदों में वृक्षों के सर्वांग से गर्भकेशर आता है।

पराग के सत्त्वगुण, तमोगुण और रजोगुण भेदों से वनस्पतियों के रसों में भी सत्त्वगुण, तमोगुण और रजोगुण तीन भेद होते हैं। फलों में रस की श्रेष्ठता होती है। तेज तत्त्व के कारण फलों में रसों की परिपक्व अवस्था होती है। वनस्पतियों की जड़ों में जब तेजकोष पैदा होता है, तब फलों में रस परिपक्व होते हैं।

सूक्ष्म पृथ्वी-रूप फलों में तेज, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश तत्त्वों के कारण, गर्भकेशर के परागकेशर से संयुक्त होने पर, बीजों की रचना होती है। उनके संयोग से फलों के अन्दर बीजों की रचना ठीक उसी प्रकार से होती है, जैसे वनस्पति-सृष्टि के आरम्भ में परागकेशर और गर्भकेशर पृथ्वी से संयुक्त होकर वनस्पति-उत्पादन-शक्ति बनते हैं। पराग के रंगों की भांति वनस्पति-सृष्टि में फलों के भी मुख्य चार प्रकार के रंग होते हैं,—सफेद, काला, पीला और लाल।

वनस्पति-सृष्टि के आरम्भ में जैसे चन्द्रमा से मुख्य चार प्रकार के परागकेशर, गर्भकेशर के पृथक्-पृथक् अंशों में संयुक्त होने से, पृथ्वी में मुख्य चार प्रकार की वनस्पतियों में चार प्रकार के वनस्पति-उत्पादक बीज बनते हैं, वैसे ही समस्त वनस्पतियों में चार प्रकार के बीज पैदा होते हैं:—

१—कुछ वनस्पतियों की कन्दों (जड़ों) में बीज की उत्पादन-शक्ति पैदा होती है। जैसे आलू, हल्दी, कचालू इत्यादि अनेक वनस्पतियों के कन्दों में बीज की शक्ति होती है।

२—कुछ वनस्पतियों की गांठों में बीज की शक्ति पैदा होती है, जैसे ईख। इसमें न तो कन्द वाली वनस्पतियों की तरह कन्द होता है और न फल वाली वनस्पतियों की तरह फल होते हैं। इसकी गांठ में बीज की शक्ति पैदा होती है।

३—कुछ वनस्पतियों के फलों के गूदे में बीज की शक्ति पैदा होती है, जैसे—गेहूँ, जौ, धान, मक्की, सरसों, ज्वार, बाजरा, मंडवा, चना, अरहर, मटर, उड़द, मूंग, सन, अलसी इत्यादि। इन के फलों के गूदे में बीज की शक्ति पैदा होती है।

४—कुछ वनस्पतियों के फलों के गूदे के अन्दर बीज की शक्ति होती है। वे किसी के अन्दर गुठलीदार होते हैं और किसी के अन्दर बिना गुठली वाले, जैसे—आम, खुमानी, आड़ू इत्यादि के बीज गुठलीदार होते हैं और नारंगी, नींबू, अनार, कद्दू, ककड़ी, गोदड़ी, तरबूज खरबूज, अंगूर, अञ्जीर इत्यादि के बीज गुठलीदार नहीं होते। अनार के बीज का छिलका ऐसे ढंग का होता है जो गुठलीदार बीजों के छिलके से हलका और बिना गुठली वाले बीजों के छिलके से सख्त होता है। गुठली और बिना गुठली वाले बीजों के छिलकों में केवल पृथ्वी तत्त्व की न्यूनाधिकता होती है। जिन बीजों के छिलकों में पृथ्वी तत्त्व की अधिकता होती है, वे सख्त होते हैं और जिनके छिलकों में पृथ्वी तत्त्व की न्यूनता होती है, वे हलके होते हैं।

अखरोट और बादाम के रसदार गूदे गुठलियों के अन्दर बीज में होते हैं। परागकेशर और गर्भकेशर का संयोग होने से उन्हीं में बीज की उत्पादन-शक्ति होती है।

कई वनस्पतियां ऐसी हैं जिनकी कन्दों में बीज की शक्ति होती है और तने में भी बीज पैदा होते हैं। उनके फल और कन्द दोनों में बीज की उत्पादन-शक्ति होती है। ऐसी वनस्पतियों के बीज गुठलीदार नहीं होते, जैसे—वाराही कन्द, तरड़ी, मूंगई इत्यादि। इनकी कन्दों में भी और फलों में भी बीज की शक्ति होती है।

परागकेशर और गर्भकेशर के संयोग से पृथ्वीतल की समस्त वनस्पतियों में बीज की उत्पादन शक्ति पैदा होती है, भले ही वह चाहे किसी की कन्द में, चाहे किसी की गांठ में, चाहे किसी के फल में और चाहे किसी की गुठली या छिलके के अन्दर हो।

वनस्पतियों में पैदा होने वाले सब प्रकार के बीज चन्द्रमा से प्राप्त होने वाले परागों और पृथ्वी से पैदा होने वाले गर्भकेशर के योग से बनते हैं। बीजों का स्थूल रूप और जड़ का भाग गर्भकेशर से बनता है और उसमें परागकेशर अंकुर रूप से रहता है।

सब प्रकार के बीज वनस्पतियों को पञ्चतत्त्वों की सहायता से पैदा करते हैं। चन्द्रमा विभिन्न परागों के द्वारा समस्त वनस्पतियों को उत्पन्न और पुष्ट करता है।

गुणों के कारण वनस्पतियों में मुख्य चार प्रकार के भेद होते हैं:—

पहिला—वनस्पति-सृष्टि के आरम्भ में पूर्ण सत्त्वगुणी परागकेशर से अमृत, संजीवनी आदि वनस्पतियाँ पैदा होती हैं। उनके रसों में पूर्ण सत्त्वगुणी अंश होने से नाशकारी तमोगुणी अंश लेशमात्र भी नहीं होता। विशेषतया ऐसी वनस्पतियाँ सृष्टि के आरम्भ में पैदा होती हैं। उनका रस ग्रहण करने से प्राणीमात्र अधिक काल तक जरा और मृत्यु से मुक्त रहते हैं।

दूसरा—पूर्ण तमोगुणी परागकेशर से मीठा तेलिया आदि हलाहल विषैले रस वाली वनस्पतियाँ पैदा होती हैं। उनमें पूर्ण तमोगुणी रस होने से सतोगुणी रस का सर्वथा अभाव होता है। ऐसी वनस्पतियों का रस ग्रहण करने से मनुष्यादि प्राणी शीघ्र मर जाते हैं।

तीसरा—सात प्रकार के रजोगुणी परागकेशर, जिनमें भिन्न-भिन्न भेदों से सत्त्वगुणी रस विभिन्न मात्रा में अधिक और तमोगुणी रस न्यून होते हैं, उनसे उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ केला, अंगूर, अनार, मूँग, धान, गेहूँ, जौ, बादाम इत्यादि हैं। इनके रसों में सत्त्वगुण और तमोगुण सम्मिलित होते हैं, किन्तु सत्त्वगुण अधिक और तमोगुण न्यून होता है। इसलिए इन वनस्पतियों के रसों को ग्रहण करने से अधिकतर

प्राणी आरोग्य, प्रसन्न-मन, निर्भय, बलवान्, शुक्रशाली, दयावान्, बुद्धिमान् और तेजस्वी होते हैं।

चौथा—सात प्रकार के रजोगुणी परागकेशर, जिनके रसों में तमोगुण विभिन्न भेदों से अधिक और सत्त्वगुण न्यून होता है, उनसे उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ धतूरा, पोस्त, भांग, तम्बाकू, लहसन, प्याज, कुल्थ इत्यादि हैं। इनके रसों में तमोगुण और सत्त्वगुण मिश्रित होते हैं, किन्तु तमोगुण अधिक और सत्त्वगुण न्यून होता है। इसलिए इन वनस्पतियों के रसों को ग्रहण करने से प्राणियों में विशेषतया उन्माद, रोग, शोक, क्रोध, निर्बलता, व्यभिचार, भीरुपन, निर्दयता और बुद्धि में अन्धकार उत्पन्न होता है।

सब प्रकार की वनस्पतियों की आद्य उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि पहले चन्द्रमा से प्रकाशयुक्त पूर्ण सत्त्वगुणी परागकेशर के पूर्ण सत्त्वगुणी गर्भकेशर से पृथ्वी के जल-स्थल-संयुक्त पंक-स्थान में मिलने से अमृत आदि बूटियाँ और सफेद पुष्प वाले कमल पैदा होते हैं। इसके पश्चात् चन्द्रमा से पूर्ण तमोगुणी अन्धकारयुक्त परागकेशर तमोगुणी गर्भकेशर को प्राप्त होकर उनसे हलाहल, विषैले रसयुक्त बूटियाँ और नीले पुष्प वाले कमल पैदा होते हैं। इसके पश्चात् चन्द्रमा से सात प्रकार के रजोगुणी पराग, जिनके योग में भिन्न-भिन्न प्रकार के सत्त्व-गुण अधिक होते हैं, पृथ्वी के उत्तरायण में पैदा होने वाली

गर्भकेशर को प्राप्त हुए, जिससे केला, अंगूर, अनार, हल्दी, पीपल, ईख, श्रीफल, आम, चन्दन, धान इत्यादि बहुत-सी वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं।

इसके पश्चात् चन्द्रमा से सात प्रकार के रजोगुणी पराग-केशर, जिनमें तमोगुण अधिक होते हैं, पृथ्वी के दक्षिणायन में उत्पन्न होने वाले गर्भकेशर को प्राप्त हुए, जिनसे धतूरा, अफीम, भांग, तम्बाकू, लहसन, प्याज, कुल्थ इत्यादि अनन्त वनस्पतियाँ पैदा हुईं। इसी प्रकार समस्त वनस्पतियों में गुणों के अनुसार मुख्य चार प्रकार के भेद होते हैं। उनमें से जो दो प्रकार की रजोगुणी रस-युक्त वनस्पतियां होती हैं, उनके रसों में सत्त्वगुण और तमोगुण के न्यूनाधिक मिश्रण से रसों में रजोगुण के मुख्य दो ही भेद होते हैं अर्थात् सत्वाधिक रजोगुणी रस और तमाधिक रजोगुणी रस।

चन्द्रमा के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के सम्बन्ध से (पराग और गर्भकेशर के संयोग से पैदा होने वाली) वनस्पतियों की जड़ और तने के अंगों में रसों के भ्रमण करने की दो गतियां होती हैं। शुक्लपक्ष में तने के भाग में विचरने वाले रस में मीठापन और जड़ के भाग में कड़वापन होता है, किन्तु कृष्णपक्ष में तने के भाग के रस में कड़वापन और जड़ के भाग में मीठापन होता है।

इस प्रकार शुक्ल और कृष्णपक्ष के सम्बन्ध से वनस्पतियों में मीठे और कड़वे रस तनों और जड़ों के अंगों में बराबर

घूमते रहते हैं। शुक्लपक्ष में तने के भाग में मीठे रस का चढ़ाव और जड़ के भाग में कड़वे रस का उतराव तथा कृष्ण-पक्ष में तने के भाग में कड़वे रस का चढ़ाव और जड़ के भाग में मीठे रस का उतराव होता रहता है। इस तरह समस्त वनस्पतियों में रसों का चढ़ाव और उतराव होता रहता है। उन रसों का यथार्थ बोध हमारी जिह्वा नहीं कर सकती, एक प्रकार की छोटी-छोटी कीड़ियाँ कर सकती हैं। शुक्लपक्ष में वनस्पतियों के तनों का भाग काटने से मीठेपन के कारण उन पर वे कीड़ियाँ लगती हैं और कृष्णपक्ष में काटने से कड़वे रस के कारण उन पर कीड़ियाँ नहीं लगतीं।

गर्भकेशर के सत्त्वगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी भेदों से वनस्पतियाँ तीन प्रकार की होती हैं। उनमें से एक प्रकार की वनस्पतियाँ ऐसी हैं जो उत्तरायण के गर्भकेशर में पैदा होकर बीजों के परिपक्व होने तक जीवित रहती हैं। इसके पश्चात् वे धीरे-धीरे सूखकर नष्ट हो जाती हैं। उन वनस्पतियों के सर्वांग में विचरने वाले परागकेशर और गर्भकेशर के बीजों में समाने पर बीज परिपक्व होते हैं। उनमें पैदा होने वाले बीज चाहे तने के भाग में हों, चाहे जड़ के भाग में, बीजों के परिपक्व होने पर वे सर्वांग सहित सूखकर नष्ट हो जाती हैं, जैसे धान, मक्की, ज्वार, मूँग, अरहर, ककड़ी, कद्दू, तोरिया, खरबूज, तरबूज इत्यादि। इनके बीज तने के भाग में होते

हैं और हल्दी, आलू, विदारीकन्द आदि अनेक वनस्पतियों के बीज कन्दों में होते हैं।

विशेषतया ये वनस्पतियाँ उत्तरायण में पैदा होती हैं और बीजों के परिपक्व होने पर धीरे-धीरे सूखकर नष्ट हो जाती हैं।

दूसरे प्रकार की वनस्पतियाँ दक्षिणायन के गर्भकेशर में पैदा होकर बीजों के परिपक्व होने तक जीवित रहती हैं, तत्पश्चात् वे भी धीरे-धीरे सूखकर नष्ट होती हैं। उन वनस्पतियों को पुष्ट करने वाले परागकेशर और गर्भकेशर बीजों के परिपक्व होने पर उन्हीं में समा जाते हैं। उनमें भी पैदा होने वाले बीज किसी के तने के भाग में और किसी के जड़ के भाग में होते हैं।

गेहूँ, जौ, मटर, मसूर, सरसों, लाई, लहसन, प्याज, तम्बाखू, पोस्त आदि अनेक वनस्पतियाँ ऐसी हैं जो प्रायः दक्षिणायन में पैदा होती हैं और वे सब बीजों के परिपक्व होने पर सूखकर नष्ट हो जाती हैं।

तीसरे प्रकार की जो वनस्पतियाँ हैं, वे इन दोनों प्रकार की वनस्पतियों की तरह बीजों के परिपक्व होने पर नष्ट नहीं होतीं। वे अपनी आयु में कितनी ही बार फल और बीजों को पैदा करती हैं, जैसे आम, अनार, खुमानी, आड़ू, अमरूद, लीची, लुकाट, सेब, नाशपाती, चीड़, बाँज, सागोन, देवदार, साल, नारङ्गी, नींबू, अञ्जीर इत्यादि अनेक वनस्पतियाँ ऐसी

हैं जो अपनी आयु में फल और बीजों को कई बार पैदा करती हैं।

उत्तरायण और दक्षिणायण के सम्बन्ध से इन वनस्पतियों के तने और जड़ के सर्वाङ्ग में विचरने वाले रस के दो तरह के भेद होते हैं। उत्तरायण में जब पृथ्वी की गर्भकेशर सत्वगुण ग्रहण करती है, तब उसमें जो रस होता है, वह भी सत्त्वगुणी गति में प्रवृत्त होता है। जैसे चन्द्रमा शुक्लपक्ष में सत्त्वगुणी गति धारण करता है, वैसे ही गर्भकेशर भी उत्तरायण में सत्त्वगुणी गति धारण कर प्रथम उन वनस्पतियों की जड़ों के जलकोष में प्रवेश करता है। वहाँ गर्भकेशर और परागकेशर के सत्त्वगुणी रसों का योग होने से सोमरस बनता है। वह धीरे-धीरे जड़ के जलकोष से तने के भाग में पहुंचकर तने में प्रथम कोंपलियों को उत्पन्न करता है। परागकेशर जड़ के जलकोष से फिर धीरे-धीरे जड़ के वायुकोष में प्रवेश करता है। उसके प्रभाव से सोमरस कोंपलियों में पत्तियों की उत्पत्ति करता है। पत्तियों में वायु-शोषण की विशेष शक्ति होती है।

परागकेशर वायुकोष से फिर धीरे-धीरे जड़ के गन्धकोष में जाता है। उसके प्रभाव से तनों के भाग में पुष्प उत्पन्न होते हैं और पुष्पों में गन्ध आती है। परागकेशर गन्धकोष से फिर धीरे-धीरे जड़ के तेजकोष में जाता है, जिससे तनों के भाग में सोमरस के कारण फल पैदा होकर उनके गूदे धीरे-धीरे परिपक्व होते हैं। फलों में सोमरस के परिपक्व होने

पर उसके साथ परागकेशर और गर्भकेशर, जो पहले से बीजों में संयुक्त हो जाते हैं, बीजों में उत्पादन-शक्ति पैदा करते हैं। बीजों में अपनी-अपनी वनस्पतियों के समस्त आकार-विस्तार, रूप, रंग, रस, गुण सूक्ष्म रूप से एकत्रित हो जाते हैं। बीजों के परिपक्व होने पर सोमरस वनस्पतियों के सर्वाङ्ग से फलों में जमा हो जाता है और वनस्पतियों के सर्वाङ्ग में उस समय एक तरह का तमोगुणी रस रह जाता है।

वह अपने विनाश गुण से, बीजों के परिपक्व होने के पश्चात्, वनस्पति के तने के भाग से कोंपल, पत्ते, पुष्प, फल और बीजों को पतित कर तनों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों से उतरते हुए दक्षिणायन में जड़ के भाग में उतरकर जड़ में प्रवेश करता है। उसी काल में वृक्ष पतझड़ होते हैं। वह रस जड़ के भाग में उतरकर परागकेशर की सहायता से दक्षिणायन में जड़ के विस्तार में ठहरता है। फिर दक्षिणायन के अन्त और उत्तरायण के आरम्भ में वनस्पतियों को जीवित रखने वाला परागकेशर सत्त्वगुण धारण करता है, जिससे वनस्पतियों में फिर सोमरस की उत्पत्ति और वृद्धि होकर वे पूर्ववत् फूलती-फलती हैं। ऐसी वनस्पतियाँ प्रथम वनस्पतियों की तरह बीजों के परिपक्व होने पर शीघ्र नष्ट नहीं होतीं। वे अपनी अवस्था में उपर्युक्त क्रम से कई बार फूलती-फलती हैं और कई बार पतझड़ होती हैं।

समस्त वनस्पतियों के रसों में मुख्य छः प्रकार के स्वाद होते हैं अर्थात् मीठा, कड़वा, खट्टा, कसैला, खारा और

चरपरा। शेष समस्त स्वाद इन्हीं के योग-भेद से वनस्पतियों में पैदा होते हैं। परागों के मुख्य ४ भेद और गर्भकेशर के दो भेद होते हैं। इन्हीं छः भेदों से उपर्युक्त छः प्रकार के स्वाद पैदा होते हैं।

समस्त वनस्पतियों में तनों और जड़ों की बनावट दो प्रकार की होती हैं। वनस्पति-सृष्टि में कुछ वनस्पतियाँ ऐसी हैं, जिनके तनों के भाग में टहनियाँ नहीं होतीं, जैसे ईख, मक्की, गेहूँ, जौ, धान, मँडवा इत्यादि और कुछ वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनके तने के भाग में टहनियाँ होती हैं, जैसे आम, अनार, बादाम, खुमानी, आड़ू इत्यादि। तने की तरह वनस्पति-सृष्टि में जड़ें भी दो प्रकार की होती हैं।

कुछ वनस्पतियों की सिर्फ एक जड़ होती है, जैसे—गाजर, मूली, शलगम इत्यादि। ऐसी जड़ों को मूसल जड़ कहते हैं। कुछ वनस्पतियों की जड़ें पृथ्वी के अन्दर टहनियों की भांति फैली होती हैं, जैसे—गेहूँ, जौ, धान, बाजरा इत्यादि। ऐसी जड़ों को झकड़ा जड़ कहते हैं।

समस्त वनस्पतियों के बीजों में सूक्ष्म रूप से जैसा स्वाद-युक्त रस होता है, वह वृक्षरूप में प्रवृत्त होने पर चन्द्रमा, पृथ्वी, जल से वैसे ही स्वादयुक्त रस को ग्रहण करता है। बीज में सूक्ष्मता से जैसा रंग विद्यमान रहता है, वृक्षों में उसी का विकास होता है। पृथ्वी में इसी प्रकार समस्त वनस्पतियां पैदा होती हैं।

उत्तरायण और चन्द्रमा के शुक्ल पक्ष में वनस्पतियों में सोमरस का चढ़ाव होता है। दक्षिणायन और कृष्णपक्ष में सोमरस का उतराव होता है, किन्तु उत्तरायण और शुक्लपक्ष में वनस्पतियों में उर्वरा शक्ति न्यून रहती है, इसलिए इनमें वनस्पतियों के शरीर अधिक दृढ़ नहीं रहते। दक्षिणायन और कृष्णपक्ष में वनस्पतियों में उर्वरा शक्ति सबल होकर रहती है, इसलिए इनमें वनस्पतियों के शरीर अधिक दृढ़ रहते हैं।

सूर्य, चैतन्यता अथवा शुक्र का भण्डार है। उससे वह अमृत अथवा सोमरस बनकर चन्द्रमा में उतरता है, चन्द्रमा से पराग बनकर पृथ्वी में उतरता है और पृथ्वी की गर्भकेशर से संयुक्त होकर वनस्पतियों को पैदा करता है। पराग वनस्पतियों में प्राणियों के शरीर का पोषक रस बनता है, जो प्राणियों के आहार के साथ पहुँचकर उनके शरीर का पोषण करता हुआ पुरुष प्राणियों में शुक्र की वृद्धि करता है और स्त्री प्राणियों में रज तथा दूध बनाता है। इसलिए वनस्पतियों को हम प्राणियों का दूसरा शरीर कह सकते हैं।

अध्याय २१

स्थूल शरीर की उत्पत्ति और विनाश

प्राणियों के स्थूल शरीर की उत्पत्ति के मुख्य दो कारण हैं,—पिता का शुक्र और माता का रज। दोनों के योग से माता के गर्भ में स्थूल पञ्चभौतिक शरीर वाले प्राणियों की उत्पत्ति होती है।

शुक्र की एक अवस्था होती है। उसम चैतन्य सत्ता, दिव्य स्वरूप और तेज होता है। किन्तु माता के रज की परिवर्तन-शील दो प्रकार की गतियां होती हैं और प्रत्येक गति में चौदह-चौदह प्रकार की क्रियायें होती हैं। रज की एक प्रकार की गति वाली चौदह क्रियाओं में सृजन अथवा उत्पादन शक्ति और दूसरे प्रकार की गति वाली चौदह क्रियाओं में विनाशकारी शक्ति होती है। विनाश-गति में रज पूर्ण तमोगुणयुक्त होने से ऋतुकाल में स्त्रियों की योनियों से विनष्ट एवं पतित हो जाता है।

रज में परिवर्तनशील गति, अतेज, नाशक गुण और अन्धकार होता है। शुक्र में जो स्थूलपन होता है, उसमें भी पुरुष के शरीर सम्बन्धी कुछ मायाकृत रज का पञ्चभौतिक

अंश होता है। यदि शुक्र से मिला हुआ रज का वह मायाकृत भाग अलग किया जाय तो शुक्र में केवल चैतन्यता, दिव्यता, स्थिरता और तेज रह जाय। वैसे ही स्त्रियों के शरीर को उत्पन्न करने वाले शुक्र की पञ्चभौतिक सत्ता को रज से पृथक् किया जाय तो रज में केवल अतेज, विनाश गुण और अन्धकार ही रह जाय।

जिसमें स्थिरता, तेजयुक्त दिव्य स्वरूप और चैतन्यता हो, उसको सत्त्वगुण कहते हैं। जिसमें बढ़ना-घटना आदि परिवर्तनशील गति, जड़त्व, अन्धकार स्वरूप और नाशक गुण हो, उसको तमोगुण कहते हैं।

स्मरण रहे कि स्त्रियों के रज में तमोगुण होता है, जिसके कारण उन की योनियों से ऋतुकाल में रज पतित होता है, किन्तु इसके पश्चात् योनि में रज की विनाश करने वाली क्रिया, सृजन अथवा उत्पादन-क्रिया में परिवर्तित हो जाती है। यदि स्त्रियों के शरीर की बनावट में शुक्र का सत्त्वगुण अंश न होता तो रज की विनाश-गति पूर्ण तमोगुण के पश्चात् उत्पादन-क्रिया में परिवर्तित न हो सकती।

विश्व-विराट्-सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश में महाप्रकृति के परिवर्तनशील तमोगुण के भी रज की भांति ठीक यही दो प्रकार के भेद होते हैं। रज और प्रकृति के क्रम में कोई अन्तर नहीं होता।

महाप्रकृति के उग्र तमोगुण से प्राकृतिक सृष्टि का विनाश

होता है। उसके पश्चात् वह चैतन्य की सत्ता से परिवर्तित होकर सृष्टि की उत्पत्ति के लिए उत्पादन-क्रिया में समर्थ होती है।

इसी तरह स्त्रियों के ऋतुकाल में रज का विनाश होने पर योनि में रज की क्रिया नष्ट नहीं होती, वरन् रज पतित होने के पश्चात् उत्पादन-क्रिया में बदल जाती है और उस समय चौदह दिन तक योनि में उत्पादन-क्रिया बनी रहती है। उन्हीं चौदह दिनों के अन्दर शुक्र की सत्ता से स्त्रियों के गर्भ में गर्भाधान रहता है।

उत्पादन-क्रिया के पश्चात् रज फिर विनाश-गुण धारण करता है, जिससे वह अपनी गति के चौदह दिनों के अन्त में नाशित तमोगुण के कारण दो या तीन दिनों तक योनि से पतित होता रहता है। इसी तरह विश्वविराट् के चौदह लोकों की उत्पत्ति और विनाश में महाप्रकृति की क्रियाएँ होती रहती हैं।

स्त्रियों की योनियों में रज १४ दिन तक उत्पादन-क्रिया में और उसके पश्चात् चौदह दिन तक नाशित-क्रिया में रहता है। रज उग्र तमोगुण से पतित होता है। रज के पतित होने के पश्चात् उग्र तमोगुण शान्त हो जाता है और फिर स्त्रियों की योनियों में रज की सृजन-शक्ति पैदा होती है।

इस तरह स्त्रियों की योनियों में रज का चक्र चन्द्रमा के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की १४ तिथियों की भांति एवं माला

के फेर की तरह बराबर घूमता रहता है। जब तक स्त्रियों की योनियों में रज का चक्र घूमता रहता है, तभी तक उन में गर्भाधान की शक्ति बनी रहती है। किन्तु रज का माला के चक्र की तरह घुमावदार फेरा नहीं होता। योनि में रज के सृजन और विनाश दो भेद चौदह-चौदह दिनों में उन्हीं १४ स्थानों में होते हैं, जिनको योनि-चौदह-लोक भी कह सकते हैं। महाप्रकृति की योनि में भी चौदह ही लोक होते हैं, जिनके विस्तार में उत्पन्न और विनाश होने वाला अखिल विश्वविराट् उत्पन्न और नष्ट होता रहता है।

महाप्रकृति के उग्र तमोगुण की विनाशी-क्रिया से समस्त विश्वविराट् का नाश होता है। उसके पश्चात् उग्र तमोगुण शान्त होकर उसकी शेष क्रिया चैतन्य की सत्ता में सुरक्षित रह जाती है और वह फिर चैतन्य की सत्ता से उत्पादन-गुण धारण कर प्रथम सत्यलोक की उत्पत्ति करती है। फिर क्रमशः तप आदि लोकों को उत्पन्न करते हुए भुवःलोक की रचना तक प्रकृति का तमोगुण न्यून और चैतन्य की सत्ता से प्राप्त होने वाला सत्त्वगुण अधिक होता है। भूलोक की रचना में दोनों गुण समान होते हैं। अतल लोक से पाताल लोक तक की रचना में तमोगुण उसी सम्बन्ध से अधिक होता रहता है, जिस सम्बन्ध से भूलोक से सत्य लोक की रचना में सत्त्वगुण अधिक होता है।

पाताल लोक की रचना के पश्चात् महाप्रकृति में विनाशी

गुण आ जाता है और वह प्रथम पाताल लोक का नाश करते हुए क्रमशः अन्तिम सत्यलोक का विनाश करता है। किन्तु ऋतुकाल में रज के पतित होने के पश्चात् स्त्रियों की योनियों में गर्भाधान के लिए प्रथम दिन योनि-सत्यलोक उत्पन्न नहीं होता। मायाकृत शरीर के विकार से स्त्रियों की योनियों में रजोगुण के उपरान्त प्रथम दिन पाताल लोक की रचना होती है, दूसरे दिन रसातल की। इसी तरह क्रमशः प्रतिदिन महातल, तलातल, सुतल, वितल, अतल, भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक की रचना होती है। उसके पश्चात् स्त्रियों की योनियों में रज की नाशित क्रिया उत्पन्न हो जाती है।

योनि में प्रति दिन रज की लोक-उत्पादन-क्रिया की कलायें (उज्ज्वलता) शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से चतुर्दशी तक प्रत्येक तिथि के चन्द्रबिम्ब की कलाओं (उज्ज्वलता) के समान समझनी चाहिए। जैसे—शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्रबिम्ब में प्रकाश न्यून से न्यून और अन्धकार अधिक से अधिक होता है तथा प्रतिपदा से ऊपर प्रत्येक तिथि में प्रकाश की कलायें बढ़ती हैं और अन्धकार का भाग घटता रहता है, किन्तु फिर भी सप्तमी तक चन्द्रबिम्ब पर प्रकाश न्यून और अन्धकार अधिक रहता है। उसके उपरान्त प्रकाश का भाग प्रति दिन अधिकाधिक बढ़ता रहता है और अन्धकार घटता रहता है, यहाँ तक कि चतुर्दशी को चन्द्रबिम्ब में प्रकाश अधिक और अन्धकार न्यून से न्यून रह जाता है।

ऐसे ही स्त्रियों के ऋतुकाल के पश्चात् प्रथम दिन से चौदह दिन तक प्रति दिन सृजन-रज में उज्ज्वलता का भेद होता रहता है। रज में प्रथम दिन अन्धकार का अधिक अंश और उज्ज्वलता का न्यून अंश होता है, किन्तु शुक्लपक्ष की चन्द्रमा की तरह सृजन-रज में प्रकाश की कलाएँ क्रमशः चौदह दिन तक बढ़ती हैं और अन्धकार का अंश घटता रहता है। शुक्ल अष्टमी के चन्द्रबिम्ब की तरह आठवें दिन रज में उज्ज्वल-अंश अन्धकार-अंश से अधिक हो जाता है। उसके उपरान्त अन्धकार-अंश न्यून और उज्ज्वल-अंश अधिकाधिक बढ़ता रहता है।

यहाँ पर मैं कुछ वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहता हूँ। यदि स्त्रियों के ऋतुकाल के पश्चात् प्रथम दिन से तीन दिन तक स्त्रियों का गर्भाधान रहे तो वह सन्तति पैदा होने पर मलीनता और अज्ञानयुक्त होगी। यदि ४ दिन से ७ दिन के बीच गर्भाधान रहे तो वह सन्तति लोभी, चिन्तायुक्त और भीरु होगी। यदि आठवें दिन से ग्यारहवें दिन तक गर्भाधान रहे तो वह सन्तति शूरवीर, तेजस्वी और शासन की सत्ता जमाने वाली होगी और यदि बारहवें दिन से चौदहवें दिन के अन्दर गर्भाधान रहेगा तो वह सन्तति परम बुद्धिमान्, ज्ञानी, अग्रदर्शी और तत्त्वविज्ञान को जानने वाली होगी।

इन दिनों में भी प्रथम दिन के गर्भाधान की अपेक्षा तीसरे दिन की गर्भाधान वाली सन्तति में अन्तर आ जाता है। ऐसे

हो चार और सात दिन की गर्भाधान वाली सन्तति में अथवा आठ, ग्यारह, बारह और चौदह दिन की गर्भाधान वाली सन्तति में अन्तर होता है। वास्तव में प्रत्येक दिन की रज की कला से गर्भाधान वाली सन्तति में गुण, कर्म और स्वभाव का अन्तर होता है। रज की कला के अनुसार सन्तान में बुद्धि उत्पन्न होती है और बुद्धि के अनुसार जीवन के कार्य होते हैं।

रज में शुक्र प्रवेश होने के समय यदि शुक्र में सम्मिलित मायाकृत पञ्चभौतिक द्रव्य रज के पञ्चभौतिक द्रव्य से अधिक बलिष्ठ हों तो स्थूल शरीर में पुरुष की उत्पत्ति होती है, यदि शुक्र में सम्मिलित मायाकृत पञ्चभौतिक द्रव्य रज के मायाकृत पञ्चभौतिक द्रव्य से न्यून बलिष्ठ हों तो स्थूल शरीर में स्त्री की उत्पत्ति होती है और यदि शुक्र व रज का समान बल और समान भाग हो तो स्थूल शरीर में नपुंसक उत्पन्न होता है।

स्त्रियों की योनियों में रज की उत्पादन-क्रिया वाली गति में जब शुक्र प्रवेश करता है, तब रज उस में लिपट कर शुक्र की चैतन्य सत्ता से उस की अज्ञान और विनाशी क्रिया ज्ञानमय होकर जाग्रत हो जाती है और वह गर्भ में विधिपूर्वक शारीरिक पिण्ड की रचना करने लगती है। शुक्र की चैतन्य सत्ता से विनाशगति का रज भी जागृति में परिवर्तित होकर धीरे-धीरे गर्भ में शारीरिक पिण्ड बनने लगता है।

माता के दोनों गतियों के रज से वह पञ्चभौतिक पिण्ड बनता हुआ जाग्रत अवस्था में बढ़ता रहता है।

स्त्रियों के गर्भ में ऋतुकाल में रज को बाहर प्रवाहित करने वाली एक नली होती है। उस नली का दूसरा भाग स्त्रियों के गर्भ में वृक्ष की जड़ों के जाल की तरह फैला रहता है। गर्भ में शुक्र उसी नली के पहले भाग के मुंह द्वारा योनि के गर्भाशय में प्रवेश करता है।। नली के दूसरी ओर वृक्ष की जड़ों की तरह जो जाल होता है, वह स्त्रियों के सर्वांग शरीर से गर्भ में बच्चों के शारीरिक पिण्ड बनाने वाले रस को पहुंचाता है। उसी नली की जड़ की सहायता से गर्भ में बच्चों के शरीर का पोषण होता है। वह नली बच्चों के पेट में नाभि से लगी रहती है, जिसको नाल भी कहते हैं। गर्भ में उसी का दूसरा भाग वृक्ष की जड़ों की तरह स्त्रियों के गर्भाशय में फैला रहता है।

गर्भ में बच्चे का पञ्चभौतिक शरीर रज के उत्पादन और विनाश दोनों गति वाले चौहद-चौदह क्रिया-भेदों से उत्पन्न होता है। इसलिए गर्भ में बच्चे का शरीर गर्भ के चौदह लोक-कलाओं से बनता रहता है। उसमें ज्ञानशक्ति, निर्णयशक्ति, विचारशक्ति और इन्द्रियों द्वारा होने वाली ज्ञान और क्रिया-शक्तियों की चैतन्यता शुक्र के सतोगुण से उत्पन्न होती है।

गर्भ में बच्चे के परिपूर्ण जागृत होने पर उस की नाभि में लगे नाल का दूसरा भाग, जो गर्भ में वृक्ष की

जड़ की तरह फैला रहता है, उस का गर्भ से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। उस के विच्छेद होने पर बच्चा सुगमतापूर्वक गर्भ से निकल कर पैदा हो जाता है।

बच्चा जैसे गर्भ में रज की पोषण सत्ता से बढ़ता है, उसी तरह पञ्चभौतिक रस, दूध आदि खाद्य पदार्थों से बाहर भी उसका शरीर बढ़ता रहता है और बढ़ते-बढ़ते पूर्ण तरुणावस्था तक उस का विकास होता है। तरुणावस्था के उपरान्त पञ्चभौतिक शरीर में तमोगुण सत्त्वगुण से अधिक बढ़ने लगता है और बढ़ते-बढ़ते वह जब शरीर में उग्र रूप धारण करता है, तब प्राणियों की मृत्यु हो जाती है।

पहिले वर्णन हो चुका है कि शुक्र में जो चैतन्य सत्ता है, उसकी नित्य एक गति होती है। रज की दो प्रकार की गतियाँ होती हैं,—उत्पादन और विनाश। उन दोनों का परिवर्तन होता है।

रज उत्पादन-गति से परिवर्तित होकर विनाश की ओर और विनाश-गति से परिवर्तित होकर उत्पादन की ओर होता रहता है। उन दोनों गतियों के अलग-अलग नाम स्थिति और प्रलय भी कह सकते हैं।

प्रकृति के उत्पादन-क्रिया भेद को, जिसका नाम विद्या-रूप प्रकृति भी है, स्थिति कहते हैं। उसमें उत्पादन शक्ति होती है। प्रकृति के परिवर्तन-शील तमोगुण को काल कहते हैं, जो

मायाकृत स्थिति का परिवर्तन कर प्रलय अथवा विनाश की ओर ले जाता है।

स्थितियों में जहाँ काल अपना उग्र तमोगुण धारण करता है, वहां मरण अथवा प्रलय होता है।

माता के गर्भ में, जहां प्राणियों के मायाकृत पञ्चभौतिक शरीर की स्थिति होती है, वहां शुक्र के सत्त्वगुण से रज में चेतनता उत्पन्न होती है और उस अवस्था में रज की तमोगुण-शक्ति उत्पादन-शक्ति बन जाती है। फिर माता के गर्भ में प्राणियों का स्थूल पञ्चभौतिक शरीर रज की उत्पादन और विनाश दोनों प्रकार की गतियों के योग से बनने लगता है।

उत्पादन रज में शुक्र संयुक्त होकर उसकी चैतन्य सत्ता से प्राणियों के शरीर में जागृति आती है। रज की विनाश-क्रिया के साधारण तमोगुण से प्राणियों के शरीर में निद्रा पैदा होती है। योनि में रज की जो दो प्रकार की गतियां उत्पादन और विनाश होती हैं, वे प्राणियों के शरीर को जाग्रत् और निद्रा दो अवस्थाओं में बराबर परिवर्तित करती रहती हैं।

प्राणियों की शरीर-स्थिति में इन दोनों अवस्थाओं का संग्राम बराबर बना रहता है। दोनों अवस्थाओं का तमोगुण प्राणियों के मायाकृत शरीर को विकास और विनाश की ओर बराबर परिवर्तित करता रहता है।

प्राणियों के शरीर में जब तक शुक्र की चैतन्य सत्ता से रज

का तमोगुण न्यून रहता है, तब तक वे पोषित होते हुए बढ़ते रहते हैं।

• जब रज की उत्पादन-क्रिया का तमोगुण शुक्र के सत्त्वगुण से अधिक बढ़ जाता है, तब शरीर का बढ़ना बन्द होकर शरीर का क्रमशः शोषण होने लगता है, जिससे पञ्चभौतिक शरीर की इन्द्रियाँ जरा और रुग्णावस्था में बलहीन होती रहती हैं।

जब प्राणियों के शरीर में पोषित-तमोगुण से नाशित तमोगुण अधिक बढ़ जाता है, तब प्राणियों के मायाकृत स्थूल पञ्चभौतिक शरीर का मरण होता है।

मृत्यु में स्थूल पञ्चभौतिक शरीर जड़त्व को प्राप्त होकर इसमें समाया हुआ जो विनाशकारी तमोगुण होता है, वह मृतक शरीर के तत्वों को अपने विशेष उग्र तमोगुण से विछिन्न कर महातत्त्वों में विभाजित करता है। वह मृतक शरीर के तत्त्वों को महातत्त्वों में मिलाने की क्रिया ठीक एक साल तक कर सकता है। उपरान्त वह तमोगुण फिर सूक्ष्म होकर अपने स्थान को जाता है।

प्राणियों की जीवित अवस्था में जो चैतन्य सत्ता रहती है, वह विनष्ट नहीं होती, केवल पञ्चभौतिक शरीर का ही नाश होकर पञ्चमहाभूतों में विभाजित होता है।

स्मरण रहे कि शुक्र में तेजोमय चैतन्य स्वरूप रहता है। उसका परिवर्तन नहीं हो सकता। उसकी नित्य एक अवस्था

है। जीवित स्थूल शरीर में जिस प्रकार वह चैतन्यमय होकर रहता है, उसी प्रकार प्राणियों के मायाकृत पञ्चभौतिक शरीर की मृत्यु के पश्चात् भी वह जीव-शरीर में ज्यों का त्यों एक ही अवस्था में बना रहता है। उसको जीवात्मा कहते हैं।

जीवात्मा की चैतन्य सत्ता, प्रकृति के बिनाशकारी उग्र तमोगुण से भी सूक्ष्म है। इसलिए परिवर्तन और विनाश करने वाला महा तमोगुण प्रलयकाल में भी चैतन्य के मान में कुछ भी अन्तर नहीं डाल सकता, वरन् अन्त में उग्र तमोगुण घटते-घटते उसी चैतन्य सत्ता में समा जाता है।

जैसे अग्नि से सूक्ष्म तत्त्व वायु है और वायु प्रचण्ड अग्नि से भी भस्म नहीं हो सकता, किन्तु अग्नि बुझ कर स्वतः ही वायु में मिल जाता है।

इसी भांति शुक्र में जो एक अवस्था वाला तेजोमय दिव्य स्वरूप चेतन्य होता है, वह प्राणियों के स्थूल पञ्चभौतिक शरीर के मृत्युकाल में भी विनष्ट नहीं होता है। शुक्र में जो मायाकृत स्थूल पञ्चभौतिक भाग रहता है, मायाकृत होने से उसका शरीर के साथ विनाश हो जाता है, केवल जीवात्मा शेष रह जाता है जिसमें बुद्धि, मन और इन्द्रियों की वासना (सूक्ष्म इच्छा) बनी रहती है। विनाश करने वाला उग्र तमोगुण मृतक शरीर के तत्त्वों को महातत्त्वों में विभाजित करने के पश्चात् शान्त होकर एक साल के पश्चात् जीवात्मा की इच्छा में जाकर समा जाता है

मृत्युकाल में पञ्चभौतिक शरीर को उग्र तमोगुण सब ओर से घेर लेता है, जिससे चेतना मृतक शरीर से सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है, किन्तु उस चेतना में सृजन क्रिया का अभाव नहीं होता।

जीवात्मा में वह सृजन क्रिया इच्छा है। इच्छा प्रकृति का सृजन-स्वरूप है। इच्छा पञ्चभौतिक शरीर से अपना सम्बन्ध-विच्छेद किसी काल में नहीं चाहती।

किन्तु जब उग्र तमोगुण प्रबल होकर पञ्चभौतिक शरीर को जड़ बना देता है, तब मृत्यु के कारण मृतक शरीर से सृजन-रूप इच्छा का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

उस काल में प्रकृति का नाशकारी तमोगुण भेद मृतक शरीर को ठीक इस तरह नष्ट कर जड़ कर देता है, जैसे स्त्रियों के ऋतु काल में रज नष्ट होकर जड़ हो जाता है और प्रकृति की सृजन-क्रिया इच्छा रूप से तेजोमय, दिव्य-स्वरूप, चैतन्य-सत्ता जीवात्मा में आश्रित हो जाती है।

उग्र तमोगुण मृतक शरीर में मृत्यु के पश्चात् भी विनाश-कार्य करता रहता है जिससे पञ्चभौतिक मृतक शरीर सड़-गलकर पञ्चमहाभूतों में विभाजित होता है।

किन्तु सृजन-भेद जीवात्मा में इच्छा के मुताबिक फिर सृजन कार्य करता है अथवा फिर दूसरे शरीर का निर्माण करता है।

चैतन्य जीवात्मा में जहाँ इच्छा आश्रित रहती है, वहां

मन की गति बनी रहती है। जहाँ मन बना रहता है, वहाँ बुद्धि होती है और बुद्धि आत्मा में आश्रित रहती है। आत्मा के प्रकाश से बुद्धि में ज्ञानशक्ति बनी रहती है। बुद्धि ज्ञान से निर्णय करती है। उससे मन में विचारशक्ति पैदा होती है। विचार इच्छा के मुताबिक क्रिया करता है। इच्छा, इन्द्रियों के विषयों से बनी रहती है। उससे प्राण आदि इन्द्रियाँ जाग्रत होकर माता के गर्भ में पञ्चभौतिक शरीर जीवित बन जाता है और उससे शारीरिक क्रियायें होने लगती हैं, जिनके द्वारा शरीर-सम्बन्धी भोग होने लगते हैं।

जहाँ शरीर के अन्दर प्राण की क्रिया होती है, वहाँ इच्छा और प्राण के मध्यस्थ उग्र तमोगुण अन्धकार स्वरूप से फैलता और लुप्त होता रहता है, क्योंकि बढ़ना और घटना उसका स्वभाव है।

प्राणियों की निद्रावस्था में उसका साधारण अंश अन्धकार रूप से इच्छा के ज्ञान को आच्छादित करता है। इसलिए निद्रावस्था में इच्छा के ज्ञान के बिना इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से अज्ञात हो जाती हैं।

किन्तु निद्रावस्था में बुद्धि के ज्ञान से शरीर का सृजन-कार्य होता रहता है, जिससे प्राण आदि क्रियायें बदस्तूर बनी रहती हैं।

यदि निद्रा में अन्धकार के परदे के होते हुए इच्छा क्रिया करना आरम्भ कर दे, तो उस अन्धकार के परदे में स्वप्न

की सृष्टि का निर्माण होने लगता है और उसको बुद्धि का ज्ञान समझता रहता है। किन्तु उस अन्धकार का अस्तित्व नहीं होता। वह जागते ही नष्ट हो जाता है, इसलिए उसमें पैदा होने वाली स्वप्न की सृष्टि भी नष्ट हो जाती है।

इच्छा में जो सृजन-क्रिया होती है, स्वप्न में वही स्वप्न का निर्माण करती है।

निद्रा के पश्चात् जागते ही जब उग्र तमोगुण का साधारण अन्धकार इच्छा के ज्ञान से हटकर, इच्छा और प्राण के बीच लुप्त हो जाता है, तब इच्छा के ज्ञान से शारीरिक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में जाग्रत हो जाती हैं। उसको जाग्रत अवस्था कहते हैं।

यदि निद्रावस्था में इच्छा की सृजन-क्रिया शान्त रहे, तो उस अवस्था में स्वप्न की सृष्टि उत्पन्न नहीं होती और निद्रा की शान्त अवस्था बनी रहती है। किन्तु उस अवस्था में भी इच्छा की सृजन-क्रिया का अभाव नहीं होता, जिससे प्राणी जागते ही फिर पूर्व इच्छा के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

निद्रावस्था में जो अन्धकार का आकार उत्पन्न होता है, इच्छा में उसका स्थान होता है। जब वह विस्तृत होकर इच्छा को ढक लेता है, तब इच्छा और प्राण के बीच पञ्चभौतिक शरीर की ओर अन्धकार छा जाता है। उसके पश्चात् फिर जागने पर वह घटकर सूक्ष्म रूप से इच्छा की सृजन-क्रिया में

समा जाता है। निद्रा का अन्धकार भी माता के रज के विनाश-अंश से प्राणियों के शरीर में उत्पन्न होता है। उसके साधारण अंश से प्राणियों की निद्रावस्था होती है, मध्य अंश से प्राणियों की मृत्यु और महाअंश से मृतक शरीर के तत्त्व छिन्न-भिन्न होकर महातत्त्वों में विभाजित होते हैं।

प्राणियों की जीवित अवस्था में जो इच्छा प्रधान होती है, मरणकाल में वही इच्छा मन में लिप्त होकर आश्रित होती है। इच्छा जीवित अवस्था में भी सूक्ष्मता से मन में आश्रित रहती है और मृत्यु के पश्चात् भी सूक्ष्मता से जीव के मन में आश्रित रहती है। जीव में जहाँ इच्छा आश्रित रहती है, वहाँ मन की गति बनी रहती है। जहाँ मन रहता है, वहाँ बुद्धि होती है। बुद्धि आत्मा में आश्रित होती है। इच्छा इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होती है, इन्द्रियां अपने-अपने तत्त्व सम्बन्धी विषयों में रत होती हैं और इन्द्रियों सम्बन्धी भोग स्थूल शरीर से होते हैं। इसलिए इच्छा से भोग के लिए शरीरों की उत्पत्ति होती है।

इच्छा के अनुसार मनुष्य गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा इत्यादि थलचर, जलचर, नभचर, कीट, पशु आदि अनेक जाति के भोग भोगने के लिए उनके समुदाय में भी पैदा हो सकता है। इस तरह सारा संसार एक से दूसरा बनता रहता है। यह प्रकृति का अटल नियम है।

जीवित शरीर में सारे मनुष्य-समुदाय की इच्छा एक ही

तरह की नहीं होती। प्रत्येक की इच्छायें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। ऐसे ही जितने भी कीट, पशु आदि प्राणी होते हैं, उनकी भी मनुष्यों की भांति भिन्न-भिन्न इच्छायें होती हैं। सृष्टि में जितने भी कीट, पशु आदि बसते हैं, उन सब में इच्छा होती है।

जीवित शरीर में जिन मनुष्यों की इच्छा पुत्र, पौत्र व स्त्री आदि मनुष्य-समुदाय में होती है, वे मरने के पश्चात् पुनर्जन्म में मनुष्य योनि में उत्पन्न होते हैं।

जिनकी इच्छा गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, ऊँट, हाथी इत्यादि जानवरों में रहती है, मरने के पश्चात् उनका पुनर्जन्म उन्हीं पशुओं में होता है।

जिनकी इच्छा हंस, मोर मैना, तोता आदि पक्षियों में होती है, वे मरने के पश्चात् उन्हीं पक्षियों में जन्म लेते हैं। जिनकी इच्छा मछली आदि जलचर जीवों में होती है, उनका पुनर्जन्म उन्हीं में होता है।

जो मनुष्य देव, यक्ष, भूत-प्रेतों का पूजन करने से उनकी इच्छा करते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् उन्हीं के लोकों में पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। इसी भांति सृष्टि के समस्त प्राणियों का अपनी इच्छानुसार मरने के पश्चात् पुनर्जन्म होता है। जिस प्रकार जीवित शरीर की मृत्यु अटल है, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म अटल है।

इच्छा जीवात्माओं में सूक्ष्म अंकुर की भांति रहती है।

वह जीवात्माओं में समाई रहती है। जैसे वृक्षों की अंकुर-शक्ति बीजों में समाई हुई रहती है और वह सूर्य, पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों की सहायता से अंकुरित होकर वृक्ष बनता है एवं उसमें पत्ते, पुष्प, फल इत्यादि वृक्ष की सारी सृष्टि उत्पन्न हो जाती है, जो पहिले उसी अंकुर के अन्तर्गत बीज में समाई हुई रहती है। इसी भांति जीवात्माओं में अंकुर-रूप इच्छा पुनर्जन्म में शरीर की उत्पत्ति करती है।

प्राणियों की जिस काल में मृत्यु होती है, वे उसी काल में पुनर्जन्म को ग्रहण नहीं कर सकते। जब मृतक शरीर के पञ्च-भौतिक तत्त्व विभाजित होकर अपने-अपने तत्त्वों में जा मिलते हैं, तब जीव-शरीर का भी तो कोई स्थान होता है, जहां वह मृत्यु के पश्चात् आश्रय पाता है?

जिस भांति मृतक शरीर का पृथ्वी तत्त्व महापृथ्वी तत्त्व में, शरीर-जलतत्त्व महाजलतत्त्व में, शरीर-अग्नितत्त्व महा-अग्नितत्त्व में, शरीर-वायुतत्त्व महावायुतत्त्व में और शरीर-आकाशतत्त्व महाकाशतत्त्व में मिल जाता है; उसी भांति जीवात्मा, जो वायु-आकाश से भी सूक्ष्म और तटस्थ है, वह आकाशादि तत्त्वों में नहीं टिक सकता। वह मृत्यु के पश्चात् भूलोक के तत्त्वों से प्राप्त होने वाले स्थूल शरीर को स्थूल भूलोक में त्यागकर, भूलोक के पञ्चतत्त्वों के विस्तार से बाहर भुवः लोक के विस्तार में पहुँचता है, जिसको चन्द्रलोक एवं पितृलोक भी कह सकते हैं।

पितृलोक में वे ही जीवात्मा पहुंचते हैं, 'जिनकी इच्छा में भूलोक सम्बन्धी वस्तुओं का इच्छा होती है। वे मृत्यु के पश्चात् पितृलोक में जाते हैं और पितृलोक से स्थूल भोगों की इच्छा से भूलोक में आकर स्थूल शरीर में पैदा होते हैं। मृत्यु के पश्चात् कम से कम एक साल जीव पितृलोक में रहता है। उग्र तमोगुण से मृत्यु होती है और वह मृतक शरीर के पंचभूतों को एक साल तक पच महाभूतों में मिलाता रहता है। वह शरीर के पञ्चतत्त्वों को पञ्चमहातत्त्वों में विभाजित करने के पश्चात् शान्त होकर पितृलोक में जीव की इच्छा के उत्पादक तमोगुण में समाता है।

उसके पश्चात् जीव की पितृलोक में प्रबल इच्छा होती है और उसके अनुसार वह पितृलोक से उतर कर भूलोक में जन्म लेता है। यदि उस जीव की इच्छा मनुष्य-समुदाय के भोगों में बनी हो तो वह मनुष्यों में जन्म लेता है। इसी भांति जिनकी गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, मछली, पक्षी आदि के भोगों में इच्छा होती है, वे उन्हीं में जन्म लेते हैं।

प्रथम वर्णन हो चुका है कि स्त्रियों की योनियों में शुक्र की चैतन्य सत्ता से रज की १४ प्रकार की कलायें योनि के १४ लोक-विस्तार में सृजन और विनाश भेद से गर्भ में स्थूल शरीरों की रचना करती हैं। इसलिए शरीर के विस्तार में भी

वही गुण-कर्म-स्वभाव होता है और वही १४ प्रकार के लोक होते हैं।

जीवित शरीर में इच्छा उन्हीं लोकों में भ्रमण करती हुई शरीर से शारीरिक कार्य कराती रहती है। शरीर प्रत्येक कार्य इच्छा के अनुसार करता रहता है। जिस काल में इच्छा जिस लोक में रहती है, उस लोक के ज्ञान-अज्ञान के अनुसार मन को वश में कर कार्य करती है।

जब मन की इच्छा से यावत् सृष्टि में सर्वत्र सत्य ही सत्य प्रतीत होने लगता है, उस काल में मन ज्ञान-इच्छा से शरीर-सत्यलोक में रहता है।

जब मन सात्त्विकी इच्छा से ध्यान-समाधि में सत्य-तत्त्व का चिन्तन करता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-तपःलोक में रहता है।

जब मन इच्छा से समत्व ज्ञान द्वारा समस्त प्राणियों को अपने समान देखता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-जनःलोक में रहता है।

जब मन इच्छा से असत्य कर्मों को त्यागकर सत्य कर्मों में प्रवृत्त होता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-महःलोक में रहता है।

जब मन सात्त्विकी इच्छा से जप, यज्ञ, दान और व्रत करता है, उस काल में मन इच्छा सहित स्वः (स्वर्ग) लोक में रहता है।

जब मन इच्छा से फल चाहने वाले कर्म करता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-भुवःलोक में रहता है।

जब मन इच्छा से फल-भोग करता है, उस काल में मन इच्छा सहित भूलोक में रहता है।

जब मन अभिमान की इच्छा से अपने को बड़ा और दूसरे को छोटा समझता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-अतललोक में रहता है।

जब मन इच्छा से अपने स्वार्थ के लिए क्रोध करता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-वितललोक में रहता है।

जब मन इच्छा से लोभ के वशीभूत होकर अनधिकार वस्तुओं का हरण करता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-सुतललोक में रहता है।

जब मन इच्छा से किसी प्राणी के प्रति विश्वासघात करता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-तलातललोक में रहता है।

जब मन इच्छा से किसी वस्तु के मोह में शोकित होता है, उस काल में मन इच्छा सहित महातललोक में रहता है।

जब मन इच्छा से असत्य (झूठी गवाही, झूठी बहस, झूठा फैसला इत्यादि) कर्मों में रत रहता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-रसातललोक में रहता है।

जब मन इच्छा से निर्दोश जीवों का बध करता है, उस काल में मन इच्छा सहित शरीर-पाताललोक में रहता है।

जिस प्रकार जीवित शरीर में इच्छा बनी रहती है, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् भी जीव-शरीर में इच्छा बनी रहती है। इच्छा जीवित शरीर में भी सूक्ष्म और मृत्यु के पश्चात् जीव-शरीर में भी सूक्ष्म होती है। जीवित शरीर में प्राणी जिस वस्तु की अधिक इच्छा करता है, मृत्यु के पश्चात् जीव की इच्छा में उस वस्तु की आसक्ति बनी रहती है।

जब प्राणियों के मृत्युकाल में पञ्चभौतिक शरीर के चौदह लोक-आकार में विनाशकारी उग्र तमोगुण समा जाता है, तब जीवात्मा शरीर को त्यागकर इच्छा के अनुसार विश्वविराट के चौदह लोकों में से उस लोक में पहुंचता है, जिस लोक-सम्बन्धी इच्छा मृत्युकाल में जीवात्मा में बनी रहती है।

मृत्यु के समय जीवात्मा की इच्छा में यदि सर्व सृष्टि में सर्वत्र सत्य ही सत्य प्रतीत होता हो, तो उस अवस्था में जीवात्मा का शरीर सत्यलोक को त्यागकर विश्वविराट् के सत्यलोक में जाता है।

मृत्यु के समय जीवात्मा की इच्छा में ज्ञान-समाधि द्वारा सत्य तत्त्व का चिन्तन होता हो, तो उस अवस्था में जीवात्मा विश्वविराट् के तपःलोक में पहुंचता है।

मृत्युकाल में जो जीवात्मा इच्छा से सृष्टि की समस्त वस्तुओं को परमात्मा की समझ कर किसी में आसक्त नहीं होता, वह विश्वविराट् के जनलोक में पहुँचता है।

असत्य कर्मों को त्यागकर इच्छा से सत्य कर्मों में प्रवृत्त

रहने वाला जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् विश्व-ब्रह्माण्ड के महः लोक में पहुंचता है।

• जो मनुष्य जीवित अवस्था में अपनी प्राप्य वस्तुओं को परमात्मा की समझकर यज्ञ व दान द्वारा, अग्नि एवं ब्राह्मण आदि को परमात्मा रूप समझकर उनको अर्पण करता है अथवा जप और व्रत द्वारा अपनी आसुरी वृत्तियों को रोकता है, जिससे अपने द्वारा किसी को क्लेश न पहुँचे, वह मृत्यु के पश्चात् विश्वविराट् के स्वःलोक में पहुंचता है।

जो जीवात्मा इच्छा से फल चाहने वाले कर्मों में रत रहता है, वह मृत्यु के पश्चात् विश्वविराट् के भुवः (पितृ) लोक में पहुंचता है।

मरने के पश्चात् जीवात्मा स्थूल मानसिक भोगों की इच्छा से फिर भूलोक में जन्म लेता है।

मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की इच्छा में (छोटे-बड़े या किसी प्रकार का) अभिमान शेष होने से वह विश्वविराट् के अतललोक में जाता है।

जब मन इच्छा से अपने स्वार्थ के लिए क्रोध करता है, तब जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् वितल लोक में जाता है।

लोभ के वशीभूत होकर अनधिकार वस्तु की इच्छा वाला जीव मृत्यु के पश्चात् विश्वविराट के सुतल लोक में जाता है।

किसी प्राणी के प्रति विश्वासघात की इच्छा वाला जीव मृत्यु के पश्चात् विश्वविराट के तलातल लोक में जाता है।

इच्छा से सांसारिक वस्तुओं के मोह में शोकित रहने वाला जीव मृत्यु के पश्चात् विश्वविराट् के रसातल लोक में जाता है।

इच्छा से असत्य कर्मों (झूठी गवाही, झूठा फैसला, झूठी बहस इत्यादि) में रत रहने वाला जीव मृत्यु के पश्चात् विश्व-विराट् के महातल लोक को जाता है।

इच्छा से निर्दोष जीवों का घातक जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् विश्वविराट् के पाताल लोक में पहुंचता है। इस तरह जीवात्मा इच्छा की आसक्ति से मृत्यु के पश्चात् विश्वविराट् के चौदह लोकों में पहुंचता है।

जब प्राणी सत्त्व, रज, तम,—तीनों प्रकार की इच्छाओं से समूल रहित हो जाता है, तब वह मृत्यु के पश्चात् प्राकृतिक लोकों को लांघकर पूर्ण चैतन्य पद को प्राप्त करता है। वही जीवात्मा का परम धाम है। ज्ञानी उसको नहीं भूलते। उसकी प्राप्ति के बिना जीवात्मा को सत्यानन्द नहीं हो सकता।

अध्याय २२

कला-विज्ञान, साहित्य, नीति और धर्म

प्रायः मनुष्य आदि जीवों की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के लिए स्वभावतः पतन की ओर झुकी हुई ज्ञात होती हैं। यही कारण है कि आकर्षक-रूप कला-विज्ञान से मानव-समाज सदैव अधिकाधिक मुग्ध होता हुआ दिखाई देता है। किन्तु आकर्षक विज्ञान में बाह्य सुख का आडम्बर है, आत्मिक तृप्ति का आहार नहीं। वह वास्तविक सुख से पृथक् होता है। बाह्य सुख ही हमें धीमी चाल से मधुरता पूर्वक आकर्षित करते हुए पतन अथवा विनाश की ओर ले जाता है।

कला-विज्ञान के आकर्षण की विकरालता में शीघ्र पतन की शक्ति विद्यमान रहती है। उसकी धीमी चाल में बाह्य सुख-जनित मधुरता ही सुख का आडम्बर है, किन्तु मधुरप्रिय शारीरिक इन्द्रियों की प्रेरक हमारी सावधान इच्छा वास्तविक सुख की खोज में ही इन्द्रियों द्वारा बाह्य सुख के आडम्बर में फँसी रहती है। यही कारण है कि हम आजन्म सुख की इच्छा से दुःख में फंसते चले जाते हैं।

वास्तविक सुख की खोज करते हुए हम इस परिणाम पर

पहुँचते हैं कि लौकिक ज्ञान-विज्ञान रूप बाह्य जगत्, जिसको हम आँख, कान आदि इन्द्रियों द्वारा देख और समझ सकते हैं; उसमें दुःख से सुख ढका हुआ है। इसलिए उस सुख की खोज में हम आजन्म दुःख से संघर्ष करते हुए दुःखी बने रहते हैं।

लौकिक ज्ञान-विज्ञान का विकास साहित्य द्वारा होता है। साहित्य संस्कृति से उद्भूत होता है। संस्कृति संस्कार से बनती है। संस्कार जीव में उत्पन्न होते हैं। जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति शुक्र एवं रज से होती है। शुक्र और रज माता-पिता के आहार-विहार तथा संयम-नियम आदि के अनुकूल बनते हैं। इसलिए माता-पिता के आहार-विहार, संयम-नियमानुसार शुक्र एवं रज से उत्पन्न होने वाली सन्तान में पैतृक संस्कार विद्यमान रहते हैं।

जीव को संचालित करने वाली कला संस्कार अथवा भीतरी ज्ञान कहलाती है। संचालित करने वाली प्रकाशित क्रिया को कला कहते हैं। संस्कारों से मनोज्ञान बनता रहता है। भीतरी और बाहरी ज्ञान के निर्णायक को मनोज्ञान कहते हैं। मनोज्ञान से उद्भूत हुए स्व-संस्कारों के समूह को संस्कृति कहते हैं और मनोज्ञान के उद्भूत विकास को भाषा एवं लिपि द्वारा संसारहित के लिए सुन्दर-सरल-आनन्दमय समझाने की शैली को साहित्य कहते हैं अथवा मानव-सृष्टि के आदि से अन्त तक किसी भी भाषा एवं लिपि द्वारा विधिपूर्वक

समझाते हुए सुन्दर-सरल-आनन्दमय मनोज्ञान को साहित्य कहते हैं।

देश, काल, परिस्थिति और जीव-स्वभाव के अनुसार मानव-जाति के भिन्न-भिन्न समुदाय एवं समाज बनने से भाषा तथा लिपि में विभिन्नता आ जाती है। भाषा एवं लिपि की विभिन्नता से मानव-साहित्य में भी विभिन्नता हो जाती है तथा वे विभिन्न भाषाओं में लिपिबद्ध किए जाते हैं। इस प्रकार भाषा और लिपियों के द्वारा लोग साहित्य को पृथक्-पृथक् नाम से भी कहते हैं।

मनुष्य के चार मुख्य अंगों—शिर, हाथ, पैर और धड़—की भांति साहित्य के भी चार मुख्य अंग होते हैं, जिनको भक्ति रस, वीर रस, शृङ्गार रस एवं करुणा रस कहते हैं। ये सब काव्य-रस हैं।

भक्ति रस—मनुष्यों में परमात्मा अथवा किसी महान् पुरुष के सदृश होने की श्रद्धा उत्पन्न करता है।

वीर रस—मनुष्यों में वीरों की भांति वीर होने की श्रद्धा उत्पन्न करता है।

शृङ्गार रस—मनुष्यों में रसिकों की भांति रसिक और अलंकृत होने की तथा अलंकार करने की श्रद्धा उत्पन्न करता है।

करुणा रस—मनुष्यों में दुःखी जीवों को मुक्त करने की श्रद्धा उत्पन्न करता है।

साहित्य की कला कार्य में परिणित होने पर कला-कौशल तथा कला-विज्ञान की सृष्टि होती है। साहित्य के मुख्य चार अङ्गों की भांति कला-विज्ञान के भी चार मुख्य अङ्ग होते हैं:—

भक्ति रस—साहित्य की कला से उत्पन्न होने वाले कला-विज्ञान में तन्त्र-मन्त्र की शक्तियां-सिद्धियां और ज्योतिष आदि हैं। ज्योतिष में दूरदर्शक यन्त्र, घड़ी आदि भी सम्मिलित हैं।

वीर रस—साहित्य की कला से उत्पन्न होने वाले कला-विज्ञान में धनुष-बाण, तलवार, तोप, बम, बन्दूक, मशीनगन आदि सब प्रकार के रक्षक और संहारक अस्त्र-शस्त्र होते हैं।

शृङ्गार रस—साहित्य की कला से उत्पन्न होने वाले कला-विज्ञान में वीणा, मृदङ्ग, बांसुरी, डमरू, ढोल, सारङ्गी, हारमोनियम, पियानो, ग्रामोफोन, नाट्य-कला, चित्र-कला, विलास-कला और सिनेमा आदि हैं।

करुणा रस—साहित्य की कला से उत्पन्न होने वाले कला-विज्ञान में वायुयान, जलयान, भूमियान आदि शीघ्र आवागमन के साधन हैं। इस प्रकार साहित्य के गर्भ से सारे कला-विज्ञान का विकास होता है।

यद्यपि साहित्य से सभी प्रकार के काव्य-रस, कला-विज्ञान और ज्ञान-विज्ञान का विकास होता है तथापि जीव के संस्कारों की महत्वाकाँक्षा और साहित्य का सारभूत 'सत्यं-शिवं सुन्दरम्' अर्थात् 'सत्य-कल्याणमय-सुन्दरता' की प्राप्ति है। इस खोज

में जीव के कोमल संस्कार सब प्रकार के विषय-रस, कला-कौशल और ज्ञान-विज्ञान में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' क्या है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस खोज को करते हुए हम अब राज्य-व्यवस्था अथवा नीति-शास्त्र की ओर चलते हैं। राज्य-व्यवस्था और नीति-शास्त्र की नींव पर पहुँचने से पता चलता है कि इनका मुख्य उद्देश्य भी मानवता के लिए 'सत्य-कल्याणमय-सुन्दरता' के विकास की रक्षा करना है।

हम सब काल, सब देश और सब जातियों की राज्य व्यवस्था अथवा नीति-शास्त्रों में इन उद्देश्यों को अटूट पाते हैं,—बुद्धि, सत्य, अक्रोध, विद्या, चोरी-परित्याग, दम, इन्द्रिय-निग्रह, धैर्य, पवित्रता और क्षमा।

(१) बुद्धि—राजा और प्रजा को प्रथम बुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता होती है। बुद्धि के विना बुद्धिमान् मन्त्रि-मण्डल नहीं बन सकता तथा बुद्धिमान मन्त्रि-मण्डल के विना राजा और प्रजा सुखी नहीं रह सकते। राजा एवं प्रजा की बुद्धिमत्ता के विना बुद्धिमान् मन्त्रि-मण्डल बनना संभव नहीं। इसलिए राजा और प्रजा दोनों को सुखी होने के लिए प्रथम बुद्धि की आवश्यकता होती है।

(२) सत्य—विधिपूर्वक राज्य-संचालन के लिए राजा और प्रजा को सत्य की आवश्यकता होती है। सत्य के बिना राज्य का अवैधानिक संचालन होता है; जिससे राजा और प्रजा

दोनों दुःखी बन जाते हैं। सत्य की रक्षा करने वाले न्यायाधीश को भी सचाई तक पहुंचने के लिए प्रजा से सच्चे साक्षियों की आवश्यकता होती है। सत्य की रक्षा के लिए ही साक्षी को ईश्वर-साक्षी कराया जाता है। सचाई का पक्ष-समर्थन करने को ही न्याय कहते हैं और सचाई के महान् समर्थक को न्यायाधीश कहते हैं। इसलिए राजा एवं प्रजा दोनों के कल्याण के लिए मन, वचन, कर्म से पूर्ण और अटूट सचाई की आवश्यकता होती है।

(३) अक्रोध—प्रजा में शान्ति-रक्षा के लिए योग्य कर्मचारियों द्वारा क्रूरता का अन्त करना, जिससे प्रजा-जनों में शुद्ध प्रेममय जीवन का सम्बन्ध बना रहे। दण्ड-विधान का उद्देश्य भी यही ज्ञात होता है। इसलिए राजा और प्रजा को शान्ति के लिए तृतीय अक्रोध की आवश्यकता होती है।

(४) विद्या –राजा और प्रजा को अच्छे गुरु द्वारा कल्याणकारी विद्याओं से समस्त जानकारी के लिए सुशिक्षित बनाना, जो शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। इसी आधार पर विद्यालयों की स्थापना होती है। इसलिए राजा और प्रजा को समस्त ज्ञान-प्राप्ति के लिए चतुर्थ विद्या की आवश्यकता होती है।

(५) चोरी-परित्याग—राजा और प्रजा के मन, वचन, कर्म में सर्वथा चोरी का अभाव होना, जिससे कोई किसी के अधिकार एवं वस्तु का हरण न कर सके। यही न्याय-नियम

का उद्देश्य है। इसलिए राजा और प्रजा को पाँचवें चोरी-परित्याग की आवश्यकता होती है।

(६) दम—राजा और प्रजा से सब प्रकार की बुराइयों को हटाना तथा उनसे मादकता आदि सब प्रकार की कुटेवों को छुड़ाकर जीवन उज्ज्वल बनाना, इसको दम कहते हैं। इसलिए उज्ज्वल, सुखी और सम्पन्न जीवन के हितार्थ राजा और प्रजा को छठे दम की आवश्यकता होती है।

(७) इन्द्रिय-निग्रह—उत्तम आहार-विहार, संयम-नियम द्वारा राजा और प्रजा को दीर्घजीवी बनाना तथा पुरुष और स्त्रियों में शुक्र-रज की वृद्धि एवं पुष्टि के हेतु उत्तम आहार-विहार, सयम-नियमों का पालन कराना, जिससे हृष्ट-पुष्ट सन्तानें पैदा होकर राष्ट्र सबल हो; इसको इन्द्रिय-निग्रह कहते हैं। इसलिए श्रेष्ठ आचार-विचार, हृष्ट-पुष्टता तथा दीर्घ जीवन के लिए राजा एवं प्रजा को सातवें इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता होती है।

(८) धैर्य—राजा और प्रजा को धीर-वीर बनाना, जिससे वे विपत्ति काल में बुद्धि की सावधानी तथा बल की दृढ़ता से प्रसन्नता पूर्वक विपत्ति एवं बुराइयों का सामना करते हुए उन पर विजय प्राप्त कर सकें;—इसको धैर्य कहते हैं। इसलिए विपत्ति और बुराइयों पर विजय-प्राप्ति के लिए राजा एवं प्रजा को आठवें धैर्य की आवश्यकता होती है।

(९) पवित्रता--राजा और प्रजा के स्वास्थ्य-लाभ तथा प्रसन्नता के लिए अन्तः और बाह्य दोनों तरह से पवित्र आचरण की आवश्यकता होती है। बुद्धि की वृत्तियों की पवित्रता तथा सचाई पूर्वक यथार्थ कर्तव्य-पालन से अन्तःकरण की पवित्रता बढ़ती है। शरीर, वस्त्र, भवन-आँगन, ग्राम, मार्ग, जल-वायु, भूमि आदि असन-वसन की निर्मलता को बाह्य पवित्रता कहते हैं। इसलिए स्वास्थ्य-लाभ तथा प्रसन्नता-वृद्धि के लिए राजा एवं प्रजा को नववीं पवित्रता की आवश्यकता होती हैं।

(१०) क्षमा—राजा और प्रजा को संसार की सहानुभूति तथा यश-प्राप्ति के लिए जीव मात्र द्वारा होने वाले सब प्रकार के अपराधों में उचित सीमा तक मन, वचन, कर्म से सहनशील होना चाहिये। साधारण दोषों में प्रजा-जनों, अपराधी वातावरण में निरपराधियों और उचित माँगों पर किसी को दण्डित न करना,—इसको क्षमा कहते हैं। इसलिए संसार की सहानुभूति और यश के लिए राजा तथा प्रजा को दसवीं क्षमा की आवश्यकता होती है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के अन्दर मानवीय 'सत्य-कल्याणमय-सुन्दरता' का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। राज्य-व्यवस्था और नीति-शास्त्र के अन्दर जो मनुष्य इन उद्देश्यों के अनुकूल चल सकते हैं, उन्हीं को नीतिज्ञ और नीति-निपुण कहा जा सकता

है तथा जो व्यवस्था इन उद्देश्यों की समुचित रक्षा कर सकती है, उसी को मानव-राज्य-व्यवस्था और नीति-शास्त्र कहा जा सकता है।

मानव-राजनीति से हम अब मानव-धर्मशास्त्र की ओर चलते हैं। धर्म मनुष्य को किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है? स्वार्थवश मत-मतान्तरों की भूल-भुलैयों की उलझन में न पड़कर प्रथम धर्म का सच्चा स्वरूप समझना आवश्यक है। उच्च कोटि के मानव-साहित्य का उद्देश्य 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की प्राप्ति है। इसको सुगमता से प्राप्त करने के लिए उत्तम राज्य-व्यवस्था अनिवार्य है। इसलिए श्रेष्ठ राजनीति का सारभूत लक्ष्य तथा साहित्य की सरसता को सुगमता से प्राप्त कराने वाला निर्मल सिद्धान्त ही मानव-धर्म का वास्तविक स्वरूप ज्ञात होता है।

मनुष्यों के मौलिक सुधार के लिए सच्चा धर्म उपदेश देता है कि बुद्धि, सत्य, अक्रोध, विद्या, चोरी-परित्याग, दम, इन्द्रिय-निग्रह, धैर्य, पवित्रता और क्षमा—इन दस लक्षणों को आचरण में धारण करना चाहिए। भारतीय सभ्यता में इन लक्षणों को ही धर्म का लक्षण माना गया है। संसार के समस्त मत-मतान्तरों में भी इन्हीं के हेर-फेर का उपदेश मिलता है। संसार की राजनीति इन्हीं का रक्षण करती है। इसलिए यह भली भांति सिद्ध होता है कि मनुष्यों का यही

व्यापक और श्रेष्ठ धर्म है। इसी की रक्षा के लिए मनुष्यों को राज्य-व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

राजनीति का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को धार्मिक बनाना सिद्ध होता है और धर्म का उद्देश्य मनुष्यों को 'सत्य-कल्याण-मय-सुन्दरता' तक पहुँचाना है। धर्म ही 'सत्य-कल्याणमय-सुन्दरता' की प्राप्ति के लिए मानव को सुपात्र बनाता है। सुपात्र होने पर 'सत्य-कल्याणमय-सुन्दरता' स्वयं प्राप्त हो जाती है, जिसको जीव सारे प्राकृतिक विश्व में खोजता रहता है।

यद्यपि 'सत्य-कल्याणमय-सुन्दरता' ही परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है, जो सर्वत्र विद्यमान है; जिसमें प्राकृतिक विश्व का भी सारा सौन्दर्य है तथापि प्राकृतिक सौन्दर्य से जीव पूर्ण तृप्त नहीं होता, अतृप्त बना रहता है, क्योंकि प्रकृति के मिश्रण से विश्व का सारा सौन्दर्य परमात्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं है। जीव परमात्मा के शुद्ध स्वरूप की पिपासा में कला-कौशल, साहित्य, नीति, धर्म, ज्ञान-विज्ञान आदि सब में भ्रमण करता रहता है, किन्तु परमात्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए परम शुद्ध होने की आवश्यकता है। शुद्ध पात्र बनने पर ही 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' परमात्मा का शुद्ध स्वरूप प्राप्त हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं।

मनुष्य धर्म के लक्षणों को नित्य आचरण में बरतने से शुद्ध पात्र बनता है। उच्च कोटि का साहित्य धर्म में श्रद्धा

कराता है। उच्च साहित्य की उपज उत्तम पुरुषों के मस्तिष्क से ही हो सकती है। उत्तम पुरुषों की उत्पत्ति उत्तम राज्य व्यवस्था के संरक्षण से होती है।

समस्त संसार में व्यक्तिगत एवं सामूहिक कार्यों की व्यवस्था दो प्रकार से होती है,—एक प्रकार की धर्मयुक्त और दूसरे प्रकार की अधर्मयुक्त। ये दोनों व्यवस्थायें एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। धार्मिक व्यवस्था से व्यक्ति और समाज दोनों का परस्पर हित तथा अधार्मिक व्यवस्था से अहित होता है।

व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से बुद्धि, सत्य, अक्रोध, विद्या, चोरी-परित्याग, दम, इन्द्रिय-निग्रह, धैर्य, पवित्रता और क्षमा,—इनको आचरण में लाने से संसार में धार्मिक व्यवस्था बनती है और इनके विपरीत अबुद्धि, मूर्खता, असत्य, क्रोध, अविद्या; चोरी, बुराइयों की लिप्सा, इन्द्रिय-लम्पटता, कायरता, मैलापन और धूर्तपन को अपनाने से ससार में अधार्मिक व्यवस्था होती है।

धर्म अथवा अधर्म में से मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा में एक का ही अवलम्बन करता है, किन्तु जीव के शुद्ध संकल्प की धर्म में श्रद्धा और अधर्म में घृणा होती है। यद्यपि परिस्थिति के वश मनुष्य अधर्म की ओर भी चला जाता है, तथापि बुद्धि का शुद्ध संकल्प उस पर घृणा करता रहता है। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्यों के उच्च संस्कारों की धर्म में स्वतः रुचि होती है, क्योंकि उसके अनुसार चलने में वे

अपना कल्याण समझते हैं। इसलिए जो राजा अपनी राज्य-व्यवस्था से इस प्रकृति-सिद्ध मानव-धर्म का यथार्थ रक्षण कर सकते हैं, वे ही संसार को सुखी बना सकते हैं और संसार के इतिहास में श्रद्धा, भक्ति तथा यश के पात्र बनते हैं। जो स्वार्थ और अज्ञान के कारण धर्म का यथार्थ रक्षण करने में असमर्थ होते हैं, उनके कारण संसार दुःखी बन जाता है और वे संसार के इतिहास में घृणा एवं अपयश से कलंकित होते हैं। धर्म से सुख की वृद्धि और अधर्म से दुःख की प्राप्ति होती है।

उच्च कोटि का साहित्य धर्म में रुचि पैदा करता है। धर्म और साहित्य का रक्षण ही राजनीति का मुख्य उद्देश्य है। धर्म पूर्ण तृप्ति का दिग्दर्शन कराता है और जीव की पूर्ण तृप्ति 'सत्य-कल्याणमय-सुन्दरता' से होती है। इसलिए कला-विज्ञान, साहित्य, नीति, धर्म और ज्ञान-विज्ञान की खोज में मानव-मात्र का एक ही उद्देश्य है,—'सत्य-कल्याणमय-सुन्दरता' अथवा 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की प्राप्ति, जो परमात्मा का ही शुद्ध स्वरूप है।

अध्याय २३

जीव और उसका कल्याण

जीव अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए समस्त खोज करने में समर्थ होता है। अतएव प्रथम जीव और उसकी खोज के रहस्य को समझना परम आवश्यक है। जीव की बनावट समझे बिना जीव को समझना कठिन है। परमात्मा और प्रकृति के संयोग से जीव की उत्पत्ति होती है। चेतन प्रकृति को जीव कहते हैं अर्थात् प्रकृति के जिस अंश में परमात्मा की चैतन्य-सत्ता से जीवन-शक्ति उत्पन्न होती है, उसको जीव कहते हैं अथवा मृतक शरीर में जिसका अभाव और जीवित शरीर में जिसका भाव बना रहता है, उसको जीव कहते हैं।

जीव का पिता परमात्मा और माता प्रकृति है। काल के रूपान्तर तत्त्वों के आवरण में परमात्मा और प्रकृति दोनों के अंशों से जीव उत्पन्न होता है। जीव के पुरुष-स्त्री दो भेद होते हैं और उनके संयोग से विश्व में स्थूल जीव-सृष्टि उत्पन्न होती है। परमात्मा और प्रकृति के संयोग से काल के अन्तर्गत

उत्पन्न होने वाले जीवों में भेदाभेद से दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव विद्यमान रहते हैं। काल प्रकृति का सूक्ष्म रज है।

पृथ्वी में जीव की सर्वाङ्ग उत्पत्ति परमात्मा और प्रकृति, सूर्य-चन्द्रमा तथा माता-पिता के संयोग से होती है। अस्तु, काल के अन्तर्गत जीव इन तीन प्रकार के आवरणों से आवृत्त होता है,—तत्त्व, वनस्पति और प्राणी-शरीर।

परमात्मा और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न होने वाला जीव सूक्ष्म प्रकृति के गर्भ में काल के अन्तगत सूक्ष्म तत्त्वों के आवरण में सूक्ष्म रूप से उत्पन्न होता है। सूर्य और चन्द्रमा के संयोग से उत्पन्न होने पर जीव चन्द्रलोक में काल तथा सूक्ष्म तत्त्वों के अन्तर्गत परागों के आवरण में कारण रूप से उत्पन्न होता है। वनस्पतियों के उत्पादक को भी पराग कहते हैं, जिसकी प्रथम उत्पत्ति सूर्य के शुक्र और चन्द्र-कलाओं से चन्द्रलोक में होती है। इसीलिए चन्द्रमा को वनस्पतियों का राजा कहा जाता है। फिर ये पराग जीवों के पोषणार्थ, चन्द्रमा से पृथ्वी में उतर कर और पृथ्वी की गर्भकेशर से संयुक्त होकर, वनस्पतियों को उत्पन्न करते हैं।

पिता और माता के संयोग से उत्पन्न होने पर जीव माता के गर्भ में काल, तत्त्वों और वनस्पति-रसों अर्थात् पराग और गर्भकेशर के रूपान्तर शुक्र और रज के शारीरिक आवरण में प्राणियों के स्वरूप में जागृत होता है।

विश्व की सर्वाङ्ग अर्थात् काल, तत्त्वों, पिण्डों और वनस्पतियों की उत्पत्ति के पश्चात् जीव शारीरिक आवरण की प्राणी-अवस्था में जीवन-शक्ति प्राप्त करता है।

विश्व की उत्पत्ति के आरम्भ में परमात्मा और प्रकृति के संयोग से पूर्व सृजन-काल द्वारा तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। फिर सूर्य और चन्द्रमा के संयोग से काल तथा तत्त्वों के आवरण में चन्द्रमा में चन्द्र-कलाओं से परागों की उत्पत्ति होती है। फिर पराग और गर्भकेशर के संयोग से काल, तत्त्वों, पराग और गर्भकेशर के आवरण में पृथ्वी पर पृथ्वी-कलाओं से वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। फिर माता-पिता के संयोग से काल, तत्त्वों, परागकेशर-गर्भकेशर, शुक्र और रज के आवरण में माता के गर्भ में योनि-कलाओं से जीवों की उत्पत्ति होती है।

काल में जीव की सूक्ष्म अवस्था, परागों तथा वनस्पतियों में जीव की कारण अवस्था और प्राणियों में जीव की जागृत अवस्था उत्पन्न होती है। इसलिए पृथ्वी पर जीव की पूर्ण सजीवता प्राणियों में ही उत्पन्न हो सकती है। प्राणियों में ही जीव की जीवन-शक्ति जागृत होती है।

परमात्मा और प्रकृति से वनस्पति आदि खाद्य पदार्थों तथा शुक्र-रज के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप ही जीव के गुण, कर्म, स्वभाव उत्पन्न होते हैं। परमात्मा प्रकाशस्वरूप, चैतन्य स्वरूप, स्थिर, सूक्ष्म से सूक्ष्म, महान् से महान्, अविनाशी, निर्भय, सुख-स्वरूप, तेजोमय, रक्षक तथा पुरुष-स्वरूप है।

प्रकृति परमात्मा से भिन्न अन्धकाररूप, जड़, परिवर्तन-शील, सूक्ष्म और स्थूल, लघु और महान्, विनाशी, भय-दुःख-शीत-स्वरूपा, रक्षित तथा स्त्रीरूपा ज्ञात होती है।

इन दोनों अर्थात् प्रकाश-अन्धकार, चैतन्य-जड़, स्थिर-परिवर्तनशील, सूक्ष्म से सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, महान् से महान्, लघु-महान्, अविनाशी-विनाशी, अभय-भय, सुख-दुःख, तेज-शीत, रक्षक-रक्षित तथा पुरुष-स्त्री के सम्मिश्रण से प्रकृति के रज अथवा सृजन-काल के आवरण में गुण-रूप या सत्त्वगुण स्वरूप में प्रथम जीव की सूक्ष्म अवस्था उत्पन्न होती है। महान् प्रकाश और अल्प अन्धकार के मिश्रित परिवर्तन से सृजन-काल उत्पन्न होता है। उस अवस्था में गुणरूप सूक्ष्म जीव का रक्षक और पोषक परमात्मा का चैतन्यमय प्रकाश होता है। उस प्रकाश से वह परम निर्भय और परम सुखी रहता है। जीव को उस अवस्था में सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश की भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि सूर्य-चन्द्रमा को भी प्रकाशित करने वाला महान् प्रकाश उस सूक्ष्म जीव का रक्षक और पोषक होता है। परमात्मा की महानता के सम्पर्क में उस जीव को भी महानता प्राप्त होती है। उस अवस्था में जीव को परम ज्ञान और महान् सुख प्राप्त होता है तथा उसको अपना आत्मा साक्षात् परमात्मा प्रतीत होता है। वहां जीव का भरण-पोषण और रक्षण करने वाला केवल परमात्मा ही है। वह जीव की उत्तम अर्थात् सतोगुणी अवस्था है। ऐसी

अवस्था में जीव परमात्मा की महानता के सम्पर्क से समस्त विश्व-विराट् के वैभव के भोगों का अधिकारी होता है।

परमात्मा की अनन्त चैतन्य सत्ता के सम्पर्क में सूक्ष्म, महान् और सृजन-प्रकृति मंगलमय काल के विभिन्न परिवर्तनों से महारजोगुण द्वारा विश्व-विराट् के अन्तर्गत अनन्त भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डों की रचना करती है, जिन में परमात्मा का प्रतिनिधित्व सूर्यों और प्रकृति का प्रतिनिधित्व चन्द्रमाओं को प्राप्त होता है। सब ब्रह्माण्डों में विभिन्न प्रकार के सूर्य और चन्द्रमा उत्पन्न होते हैं। सब में परमात्मा और प्रकृति का प्रतिनिधित्व सूर्य और चन्द्रमा ही करते हैं।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड को धारण, रक्षण, पोषण, प्रकाशन और चेतन करने वाला पिता सूर्य होता है तथा ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और लय करने वाली माता के रज के सदृश्य चन्द्र-कलायें होती हैं। सूर्य-किरणों के संयोग से, महाप्रकृति की भांति, चन्द्रमा में सृजन और संहार-स्वरूपा चौदह प्रकार की कलाएँ होती हैं। प्रत्येक चन्द्र-कला से एक-एक पराग उत्पन्न होता है और सब परागों की चौदह प्रकार की कलाओं के योग से चन्द्रलोक में रजोगुणी कारण-जीव की उत्पत्ति होती है। उस अवस्था में परमात्मा के अतिरिक्त कारण-जीव का पिता सूर्य और महाप्रकृति के अतिरिक्त माता चन्द्र-कलाएँ होती हैं। सूर्य की किरणों से चन्द्र-कलाएँ उत्पन्न होती हैं। चन्द्र-कलाओं के गर्भ में परागों के आवरण में चन्द्रमा में रजोगुणी कारण-जीव और

सोमरस की उत्पत्ति होती है, जैसे गर्भवती स्त्रियों से बच्चा और दूध पैदा होता है।

चन्द्रलोक में चन्द्र-कलाओं से एक प्रकार के पुष्प उत्पन्न होते हैं। वे गर्भ धारण करने वाली स्त्रियों के गर्भ-पुष्प की भांति होते हैं। उन में सूर्य के तेज अथवा शुक्र से सूक्ष्म पराग उत्पन्न होते हैं। वे प्रकाश और चेतना से मिश्रित होते हैं। उन परागों में चन्द्रमा की सृजन-कलाओं द्वारा चन्द्रमा से एक प्रकार का रस पहुँचकर लिपटता है। फिर लिपटे हुए पराग और रस दोनों मिश्रित होकर दिव्य केशर में परिणित होते हैं। उस केशर का दिव्य भाग चन्द्रलोक में कारण जीव का दिव्य आवरण बनता है और दूसरा भाग सोमरस में परिणित होता है। सोमरस सूर्य की किरणों द्वारा चन्द्रलोक में कारण जीव का भरण-पोषण करता है। उस रस का आदान-प्रदान करने के कारण सूर्य की किरणों को रश्मि कहते हैं।

सूर्य-किरणों के सम्पर्क से प्रकाशित होता हुआ चन्द्रमा शुक्लपक्ष में वृद्धि को और कृष्णपक्ष में अपने अन्धकार से आच्छादित होता हुआ ह्रास को प्राप्त होता है। चन्द्र-कलाओं की वृद्धि के साथ चन्द्रलोक में सोमरस की वृद्धि होती है और कलाओं के ह्रास से उस में सोमरस का ह्रास होता है। चन्द्रलोक में सोमरस की वृद्धि और ह्रास-क्रम से रजोगुणी कारण जीव में सुख-दुःख की कर्म-वासना बन जाती है; जिससे कारण जीव में गुण और कर्म-वासना उत्पन्न होती है।

कारणावस्था में जीव अपने चन्द्रलोक के समस्त वैभव के भोगों का अधिकारी होता है। महाप्रकृति के चौदह लोकों की भांति चन्द्रलोक भी चौदह प्रकार के होते हैं। चौदह विधियों के चन्द्रबिम्बों को चौदह चन्द्रलोक समझना चाहिए। समस्त वनस्पतियों को उत्पन्न करने वाले परागों की उत्पत्ति चन्द्रमा से होती है और पृथ्वी में वनस्पतियों को समस्त रस परागों के द्वारा चन्द्रमा से प्राप्त होते हैं। इसलिए चन्द्रलोक में कारण-जीव सोमरस आदि समस्त वनस्पति-रसों को भोगने का अधिकारी होता है। कारण-अवस्था जीव की रजोगुणी अथवा मध्यम अवस्था है। उस अवस्था में जीव में गुण और कर्म-वासना होती है।

सूर्य-किरणों और चन्द्र-कलाओं के संयोग से उत्पन्न होने वाले, कर्म-वासना में लिप्त कारण-जीव तथा परागों के दिव्य आवरणों से लिपटे कारण-जीव चन्द्रमा से परागों के साथ वायु द्वारा कर्म-भूमि पृथ्वी पर उतरते हैं। कर्म-वासना से लिप्त परागों के आवरण में लिपटे कारण-जीव परागों के साथ वायु द्वारा सुगमता पूर्वक चन्द्रमा से पृथ्वी में इस प्रकार पहुँचते हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रकाश पृथ्वी पर पहुंचता है।

कर्म-वासना से लिप्त रजोगुणी कारण-जीव पराग के साथ पृथ्वी पर उतरने से पृथ्वी की गर्भकेशर से लिपट जाता है। पराग पृथ्वी में गर्भकेशर से संयुक्त होने पर दोनों के प्रभाव से पृथ्वी की गर्भकेशर के स्थान में धीरे-धीरे कुछ काल में

वनस्पति-पुष्प की भांति एक प्रकार का दिव्य पुष्प उत्पन्न होता है, जैसे गर्भ धारण करने वाली स्त्रियों के गर्भ-पुष्प होते हैं। उसकी बनावट एक बड़े उत्तम कमल-पुष्प के समान होती है। पृथ्वी के उस पुष्प में वनस्पति-पुष्पों की भांति फिर पराग और गर्भकेशर संयुक्त होकर नींबू के सदृश्य एक दिव्य अण्डा-सा उत्पन्न होता है। उस अण्डे में उस लिपटे हुए जीव के प्रभाव से पराग और गर्भकेशर रूपान्तरित होकर शुक्र और रज में परिणित हो जाते हैं, जैसे खाद्य वनस्पतियां जीव के प्रभाव से प्राणियों के शरीर में रूपान्तरित होकर शुक्र और रज में परिणित होती हैं। फिर उनके योग से उस अण्डे में एक प्रकार की दिव्य केशर उत्पन्न होती है। कुछ काल में वह दिव्य केशर दो भागों में विभक्त हो जाती है। उसका उत्तम भाग गर्भकेशर द्वारा पञ्चतत्त्वों के आवरण में पृथ्वी पर मनुष्यादि प्राणियों के स्वरूप में पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों में जागृत होता है तथा दूसरा भाग जीव के पोषणार्थ गर्भकेशर के आवरण में वनस्पति रूप में सोमरस अथवा प्राणप्रद रस को धारण करता है, जैसे प्रसवकाल में स्त्रियों के बच्चा और दूध दोनों पैदा होते हैं।

प्रसवकाल में माता के खाद्य-वनस्पति-रस का उत्तम भाग शुक्र और रज में परिणित होकर माता के गर्भ में बच्चे का शारीरिक आवरण बनता है। जिस वायु द्वारा कारण-जीव

पराग के साथ चन्द्रमा से पृथ्वी में पहुंचता है, वही वायु शरीर धारण करने पर जीव का प्राण-वायु बनता है।

मानव आदि जीव-सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी के जिस भाग में गर्भकेशर से संयुक्त पराग पर सूर्य का अधिक प्रभाव पड़ा, वहाँ पैदा होने वाला जीव सूर्य के प्रभाव से पुरुष रूप में जागृत हुआ और पृथ्वी के जिस भाग में गर्भकेशर से संयुक्त पराग पर चन्द्रमा का अधिक प्रभाव पड़ा, वहां पैदा होने वाला जीव चन्द्रमा के प्रभाव से स्त्री रूप में जागृत हुआ। पुरुषों में सूर्य के समान गुण वाले शुक्र की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में सूर्य प्रकाश, चेतना, ज्ञान और तेज प्रदान करता है, उसी प्रकार प्राणियों के शरीर में शुक्र प्रकाश, चेतना, ज्ञान और तेज प्रदान करता है। स्त्रियों में चन्द्रमा के समान गुण वाले रज की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में सृजन और विनाश स्वरूपा चौदह प्रकार की कलाएँ होती हैं, उसी प्रकार रज में भी सृजन और विनाश स्वरूपा चौदह प्रकार की कलाएँ होती हैं।

सूर्य और चन्द्रमा की शक्तियों से पृथ्वी में तत्त्वों के अन्तर्गत पराग और गर्भकेशर के आवरण में प्रथम दिव्य मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। इसलिए मनुष्य-जाति की जो वंश-परम्परा पिता के नाम से चलने लगी वह सूर्यवंशी और जो माता के नाम से चलने लगी वह चन्द्रवंशी कहलाई। इसी

से भारतवर्ष में सूर्यवंश और चन्द्रवंश अभी तक प्रसिद्ध एवं प्रचलित हैं।

सूर्य और चन्द्रमा के संयोग की भांति पुरुष-स्त्री प्राणियों के संयोग से स्त्रियों के गर्भ में शुक्र के प्रभाव और रज की कलाओं से पञ्चतत्त्व के आवरण में पुरुष और स्त्री भेदों में जीव पैदा होने लगें। जिस गर्भ में सूर्य की भांति शुक्र का अधिक प्रभाव पड़ता है, वहाँ पुरुष जीव और जिस गर्भ में चन्द्रमा की भांति रज का अधिक प्रभाव पड़ता है, वहाँ स्त्री जीव स्थूल शरीर में पैदा होते हैं। तत्पश्चात् वे फल-फूल, कन्द-मूल, घास आदि वनस्पतियों के साथ जल-वायु आदि पञ्चतत्त्वों का आहार करते हैं और उन से उन के स्थूल-शरीर की वृद्धि और पुष्टि होती है। वनस्पति आदि आहारों के रसों में जो पराग का भाग होता है, वह पुरुष-प्राणियों के शरीरों में पहुंचने पर शुक्र में परिणित हो जाता है और गर्भकेशर का भाग रुधिर में परिणित होकर जीव का शारीरिक आवरण बनता है। स्त्रियों के आहार में जो पराग का भाग होता है, वह स्त्री-प्राणियों के शरीर में पहुंचने पर रज की कलाओं में परिणित होकर चन्द्रकलाओं की भांति योनि-कलाएँ बनता है तथा गर्भकेशर का भाग रुधिर में परिणित होकर शरीर का आवरण बनता है।

पुरुष-जीव के स्थूल शरीर में परमात्मा और सूर्य का प्रतिनिधित्व शुक्र करता है तथा स्त्री-जीव के स्थूल शरीर में प्रकृति और चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व रज करता है। इन दोनों

के संयोग से माता के गर्भ में जीवनी-शक्ति प्राप्त करके प्राणियों में जीव जागृत होता है। इस प्रकार जीव के तीन पिता और तीन माताएँ होती हैं। ये तीन पिता-माता हैं,—पिता, पितामह परपितामह और माता, मातामही, परमातामही। इन तीनों को ही श्रद्धाञ्जलि दी या तर्पण किये जाते हैं। शुक्र प्रदान करने वाला पिता है, प्रकाश और ज्ञान प्रदान करने वाला सूर्य पितामह है तथा सूर्य का भरण-पोषण करने वाला परमात्मा परपितामह है। इसी प्रकार शारीरिक आवरण-रूप में रज को प्रदान करने वाली माता है, खाद्य वनस्पतियों को प्रदान करने वाली चन्द्र-कलाएँ मातामही हैं और अपनी कलाओं से काल के रूपान्तर शारीरिक तत्त्वों को प्रदान करने वाली महाप्रकृति परमातामही है।

इस प्रकार जीव की सर्वाङ्ग उत्पत्ति परमात्मा और प्रकृति के संयोग से सूक्ष्म तथा महान प्रकृति के गर्भ में काल के आवरण में सूक्ष्म रूप में होती है। फिर परमात्मा-प्रकृति के अन्तर्गत सूर्य-चन्द्रमा के संयोग से चन्द्रलोक में काल तथा सूक्ष्म तत्त्वों के अन्तर्गत दिव्य परागों के आवरण में कारण-रूप में होती है और तत्पश्चात् परमात्मा-प्रकृति, सूर्य-चन्द्रमा के अन्तर्गत पुरुष-स्त्री के संयोग से माता के गर्भ में काल, तत्व, पराग और गर्भकेशर अर्थात् वनस्पतियों के रूपान्तर शुक्र-रज के आवरण में जीव मनुष्यादि प्राणियों में जागृत होकर जीवनी-शक्ति प्राप्त करता है अथवा जीव काल के

अन्तर्गत पराग और गर्भकेशर (जो पिता-माता के खाद्य-पदार्थों से शुक्र-रज में परिणित होते हैं) की सत्ता से माता के गर्भ में आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी पञ्चभूतों का आदान कर उनके आवरण में पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों में जागृत होकर मनुष्यादि प्राणियों के स्थूल शरीर में जीवन-शक्ति प्राप्त करके वह माता के गर्भ से पृथ्वी पर उतरता है।

सूर्य और शुक्र की सत्ता से पञ्चतत्वों द्वारा प्राणियों में पांच ज्ञानेन्द्रियों का विकास होता है। सूर्य और शुक्र ज्ञान के अधिष्ठाता देव हैं। प्रकृति की कलाओं, चन्द्र-कलाओं तथा रज की कलाओं के प्रभाव से पञ्चतत्वों द्वारा प्राणियों में पांच कर्मेन्द्रियों का विकास होता है, क्योंकि प्रकृति, चन्द्र और रज की कलाएँ क्रिया-स्वरूपा होती हैं।

कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण को ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं, तथा हाथ, पाँव, मुख, लिङ्ग और मलद्वार को कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं।

पृथ्वी पर मनुष्यादि जीव अपने-अपने स्वभाव से ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान सम्बन्धी और कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म सम्बन्धी कार्य करने में समर्थ होते हैं। वे पृथ्वी के समस्त भोगों के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार जीव अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव में प्रवृत्त होकर मनुष्यादि प्राणियों में जीवन-शक्ति प्राप्त करके पृथ्वी में उतरता है। प्राणी-अवस्था जीव की तीसरी अथवा तामसी अवस्था है। इसलिए जीव

अज्ञानवश प्राकृतिक भोगों के लिए आजन्म लालायित रहता है। यद्यपि जीव स्वभावतः शान्तिप्रिय होता है, किन्तु स्वार्थ-वश वह अपनी शान्ति-रक्षा के लिए उचित-अनुचित का विवेक खो देता है। •

परमात्मा और प्रकृति के, सम्पर्क से सूक्ष्म तत्त्वों के आवरण में जीव की सूक्ष्म अवस्थां 'उत्पन्न होती है और उसमें गुण आता है। परमात्मा और प्रकृति के अन्तर्गत सूर्य और चन्द्रमा से परागों के आवरण में जीव की कारण-अवस्था उत्पन्न होती है और उसमें गुण, कर्म आता है। वनस्पतियों में भी गुण, कर्म होता है, क्योंकि उनमें पराग होते हैं। परमात्मा-प्रकृति, सूर्य-चन्द्रमा तथा पराग-गर्भकेशर ये सभी वनस्पति-रसों के अन्तर्गत प्राणियों के आहार से शुक्र और रज में परिणित होते हैं। पिता और माता के संयोग से शुक्र-रज अर्थात् चर्म, मांस, रुधिर, हड्डी आदि के आवरण में मनुष्य आदि प्राणियों में जीवन-शक्ति प्राप्त करके जीव जाग्रत होता है और उसमें गुण, कर्म, स्वभाव आते हैं। इसलिए जीव अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा अपने गुण, कर्म, स्वभाव से परमात्मा और प्रकृति दोनों के भोग भोगने का अधिकारी होता है।

दिन में सूर्य के प्रकाश के प्रभाव से मनुष्यादि जीवों की ज्ञानेन्द्रियाँ चेतन होकर जाग्रत होती हैं और कर्मेन्द्रियाँ उनके ज्ञानाधीन होकर विधिपूर्वक कार्य करती हैं, किन्तु रात्रि में

प्रकृति के अन्धकार के प्रभाव से जीव की ज्ञानेन्द्रियाँ निद्रा में अचेतन हो जाती हैं और उनकी अचेतना से कर्मेन्द्रियाँ भी जीव का विधिपूर्वक कार्य करने में जड़ अर्थात् असमर्थ हो जाती हैं। इसलिए जीव दोनों अवस्थाओं में दोनों प्रकार के भोग भोगता रहता है।

परमात्मा के सम्पर्क में प्रकृति की प्रकाश-अन्धकार, चेतन-अचेतन,—दो अवस्थायें होती हैं। प्रकृति स्वरूपा रज के आवरण में जीव की भी स्थूल शरीर में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा ज्ञान-अज्ञान तथा चेतन-अचेतन दो अवस्थायें होती हैं। जीव जीवित और जागृत अवस्था में प्राकृतिक ज्ञान से युक्त होकर प्राकृतिक भोगों को भोगता है और अचेतन अवस्था अथवा मृत्यु और निद्रा में वह प्राकृतिक ज्ञान से भी रहित हो जाता है, क्योंकि उन अवस्थाओं में जीव प्रकृति के सूक्ष्म, किन्तु महा अन्धकार के आवरण से आवृत्त हो जाता है। अतः जीव की निद्रावस्था से जाग्रतावस्था और मृत्यु-अवस्था से जीवित अवस्था श्रेष्ठ होती है।

जब प्रकाशित-काल की गति से कारण-जीव मृत्यु अवस्था से जीवित अवस्था को और निद्रावस्था से जाग्रतावस्था को प्राप्त करता है, तब फिर वह प्राकृतिक प्रकाश द्वारा अपने निर्मल, स्थिर और महान् प्रकाश की ओर बढ़ता है। जीव माता के रज के शुक्लपक्ष में जीवित अवस्था और सूर्य के प्रकाश से जाग्रत अवस्था प्राप्त करता है। इनको प्रकाशित-

काल की गति समझना चाहिए। जिस प्रकाश में पहुंचने से जीव के प्राकृतिक अन्धकार का आवरण समूल हटकर शुद्ध प्रकाश में प्रवृत्त हो जाता है, उस परम निर्मल, सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् प्रकाश के आवरण में जीव को चेतना और परम कल्याणमय ज्ञान प्राप्त होता है। तब जीव परम धैर्य, अभय और सुख प्राप्त करने में समर्थ होता है।

जब जीव की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने गुण, कर्म स्वभाव द्वारा प्राकृतिक ज्ञान से सम्बन्धित होकर प्राकृतिक भोगों की ओर चलती हैं, तब वह उन दुःखमय भोगों को भोगते हुए अन्त में प्रकृति के महा अन्धकार में जा गिरता है। ऐसे जीव को प्रकृति स्वयं अपने महा अन्धकार की ओर धकेल देती है। अन्धकार में जीव अज्ञानी बनकर कल्याण से गिर जाता है तथा मूर्ख, आलसी और भीरु बनकर कर्तव्य को अकर्तव्य एवं अकर्तव्य को कर्तव्य समझता हुआ परम दुःखी बना रहता है। हम मनुष्य जीव हैं और इसी शरीर से कल्याण-अकल्याण की ओर बढ़ सकते हैं।

प्राणियों के शरीर में शुक्र परमात्मा का प्रतिनिधित्व करता है। हम जितने भी शुभ आहार करते हैं, उनके मंगल-मय अर्थात् शुभ अंशों से शुक्र की वृद्धि एवं पुष्टि होती है। शुक्र ही शरीर में चेतना, ज्ञान, निर्भयता, पुष्टि, सौन्दर्य, आरोग्यता और दीर्घायु प्रदान करता है। रज में नष्ट होने की स्वाभाविक गति होती है, जिससे वह ३० दिन के लगभग

रजस्वला अवस्था में पतित व नष्ट होता रहता है। शुक्र में स्थिरता, चेतना और नाश की गति को थामने का गुण होता है। इसलिए लगभग ३० दिन तक नष्ट होने वाला रज शुक्र के प्रभाव से गर्भिणी स्त्रियों के गर्भ में सन्तान के रूप में जाग्रत होकर चेतना, ज्ञान और दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। जिस शुक्र की सत्ता से रज रूपी शरीर के आवरण में जीव को विवेक, बल आदि सारी शक्तियां प्राप्त होती हैं, उस शुक्र का निर्मल संरक्षण ही मनुष्यादि जीवों का परम कल्याणदायक पुरुषार्थ है, किन्तु तामसी प्रकृति के भोगों में ही आसक्त रहने वाले मूर्ख जीवों को शुक्र का रक्षण महा कठिन प्रतीत होता है। विवेकी बुद्धि द्वारा मंगलमय भावना से पवित्र आहारों के निर्मल भोगों से ही निर्मल शुक्र की प्राप्ति होती है।

हम कानों के द्वारा शब्दों के आहारों का भोग करते हैं, त्वचा के द्वारा वस्त्रादि स्पर्श करने वाली वस्तुओं के आहार का भोग करते हैं, आँखों के द्वारा रूपों के आहार का भोग करते हैं, रसना के द्वारा वनस्पति आदि रसों के आहार का भोग करते हैं और घ्राण द्वारा विभिन्न गन्धों के आहार का भोग करते हैं। इन सब प्रकार के आहारों के भोगों में परम पवित्र भावना के बिना निर्मल शुक्र-रक्षण कदापि नहीं हो सकता। जीव की जाग्रत अवस्था में उसकी सब इन्द्रियां हर समय भ्रमरों की भांति अपने-अपने भोगों की इच्छुक बनी रहती हैं और जीव को अपने-अपने भोग सम्बन्धी कार्य करने

के लिए प्रेरित करती हैं। सब इन्द्रियां अपने-अपने विषय-भोगों में आसक्त होकर तामसी प्रकृति की ओर झुकी रहती हैं, जिससे वे निर्मल शुक्र-संरक्षण रूपी अमरत्व के विपरीत उसके पतन का कारण बन जाती हैं। प्रकृति में पतन करने का गुण स्वाभाविक होता है, इसलिए इन्द्रियों के विकार-त्याग के बिना अर्थात् पतन की ओर खींचने वाले विषयों से सम्बन्ध-विच्छेद किए बिना जीव अपने उद्देश्य से गिर जाता है।

इन्द्रियों के विकार-त्याग के लिए विवेकी बुद्धि मार्ग-दर्शक होती है, जिससे इन्द्रिय-निग्रह किया जाता है। मन, वचन, कर्म से सर्वथा चोरी-परित्याग के बिना इन्द्रिय-निग्रह नहीं हो सकता और मन, वचन, कर्म में पूर्ण सत्य के बिना चोरी-परित्याग नहीं हो सकता। पूर्ण पवित्रता के बिना सत्य का आचरण नहीं हो सकता। इन्द्रियों की निर्मलता की पराकाष्ठा को पूर्ण पवित्रता कहते हैं। विद्या के बिना पवित्र आचरण नहीं होता। जिसके द्वारा सत्-असत् का विवेक होता है, उसको विद्या कहते हैं। दम के बिना विद्या का रहस्य समझ में नहीं आता। बुराइयों को सर्वथा त्याग कर जीवन को उज्ज्वल और पवित्र बनाने को दम कहते हैं। अक्रोध के बिना दम का आचरण नहीं होता, क्योंकि क्रोध ही सब बुराइयों का कारण है। क्षमा के बिना अक्रोध का आचरण नहीं हो सकता। शान्ति की पराकाष्ठा अथवा सहनशीलता की चरमसीमा को क्षमा कहते हैं। धैर्य के बिना क्षमा का आचरण नहीं

होता। प्रसन्नता पूर्वक बुराइयों को जय करने की दृढ़ भावना को धैर्य कहते हैं। विवेक के बिना धैर्य नहीं रह सकता। कर्तव्य-अकर्तव्य समझने वाली बुद्धि के ज्ञान को विवेक कहते हैं और बुद्धि-विवेक के बिना जीव अपना हिताहित समझने में असमर्थ होता है। बुद्धि-विवेक ही जीव का दिव्य नेत्र है। इसलिए कल्याण की ओर बढ़ने वाला कल्याणकामी मनुष्य विश्व के अन्तर्गत किसी भी पदार्थ का भोग करने से पहिले उसमें सत्-असत् का निर्णय करने तक धैर्य धारण करता है। मनुष्य के इस प्रकार के आचरण को ब्रह्मचर्य कहते हैं अर्थात् परम सुख-शान्ति स्वरूप पूर्ण ब्रह्म परमात्मा की ओर चलने के आचरण का नाम ही ब्रह्मचर्य है।

निर्मल ब्रह्मचर्य से बुद्धि में सूर्य के समान प्रकाश, ज्ञान और तेज उत्पन्न होता है, जिससे शारीरिक भूः, भुवः, स्वः आदि सब लोकों के ज्ञान देदीप्यमान हो जाते हैं अर्थात् चतुर्दश लोकों के रहस्यों को समझने वाले ज्ञान इस प्रकार प्रदीप्त हो जाते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश चतुर्दश तिथियों में चतुर्दश विधि चन्द्रमा को प्रदीप्त करते हैं। सूर्य के समान प्रकाशमय ज्ञान से परम कल्याणकामी जीवों की बुद्धि का आवरण सूर्य के ही समान प्रकाशित और तेजस्वी बन कर दिव्य गुणों से विभूषित हो जाता है। जीव की वह परम निर्मल अवस्था है। उस अवस्था में जीव चतुर्दश लोकों के रहस्यों को सुगमता से जान लेता है और काल को लांघने की इच्छा से दिव्य लोकों से भी

ऊपर परम कल्याण की ओर बढ़ता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न अनन्त सुख-दुःखों के स्थान चतुर्दश लोकें एवं समस्त मङ्गल-अमङ्गल काल के ही अन्तर्गत होते हैं।

१ परम कल्याण की इच्छा वाला मनुष्य-जीव स्वेच्छा से रजोद्भूत नाशवान् रुधिर, माँस, हड्डी के आवरण तुच्छ शरीर को इस प्रकार प्रसन्नता पूर्वक मृत्युलोक (पृथ्वी) में ही त्यागकर प्रकाश के आवरण को ग्रहण करते हुए सूर्य के प्रकाश के साथ सूर्य में जा पहुँचता है, जिस प्रकार दिव्य वस्त्र के प्राप्त होने पर कङ्गाल मनुष्य अपनी मैली-फटी हुई गुदड़ी को प्रसन्नता से त्यागकर दिव्य वस्त्र को धारण करता है। अपने प्रकाश के साथ, अपने समान गुण वाले उस जीव को सूर्य सप्रेम ग्रहण करता है। यह अटल नियम है कि सहधर्मीपने में सहज स्वाभाविक आकर्षण होता है।

सूर्यलोक में पहुँचकर वह परम कल्याण की इच्छा वाला जीव सूर्यलोक के समस्त भोगों का अधिकारी इस प्रकार बन जाता है, जिस प्रकार वह मानव-शरीर में पृथ्वी के भोगों का अधिकारी था। सूर्यलोक में प्रकाश, महा चेतना और दिव्य तेज भरपूर रहता है। जीव का जीवन भी इस लोक में इसी के अनुरूप दिव्य रूप से सुखी होता है। उन सुखों की तुलना पृथ्वी लोक के सुखों से नहीं हो सकती।

फिर, सूर्यलोक में पहुंचा हुआ वह परम कल्याण की इच्छा वाला जीव स्वेच्छा से सूर्यलोक से सूर्य को भी प्रकाशित करने

वाले परम प्रकाशमय परमात्मा (महा प्रकाश) में पहुँचता है। उस अवस्था में वह प्रकृति के दिव्य आवरण को भी सूर्य लोक में ही त्यागकर अर्थात् प्रकाशित-काल को भी लाँघकर पूर्ण कल्याणमय परमानन्द परमात्मा के अमरत्व को प्राप्त करता है, क्योंकि सूर्य भी मङ्गलमय अथवा प्रकाशित-काल के अधीन होता है। पूर्ण परमात्मा के सम्पर्क से वह कृतकृत्य जीव स्वयं परमात्मा के ही सदृश्य विश्व का सृजन, पालन और संहार करने वाली महाप्रकृति का पति बन जाता है।

इस प्रकार निर्मल ब्रह्मचर्य द्वारा मनुष्य समस्त ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करता हुआ पृथ्वी पर अमर कीर्ति को छोड़कर परम कल्याण के अमरत्त्व को प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य के अनुकूल चलने को कर्तव्य कहते हैं और कर्तव्य की दृढ़ धारणा को धर्म कहते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य और कर्तव्य की जिस दृढ़ धारणा द्वारा जीव लौकिक कल्याण को प्राप्त करता हुआ पारलौकिक कल्याण को प्राप्त करता है, उसका नाम धर्म है।

इस ब्रह्मचर्य के विपरीत चलने को व्यभिचार और अकर्म कहते हैं। अज्ञान के वश अकर्म (अकर्तव्य) और व्यभिचार की ओर चलने की गति को अधर्म कहते हैं अर्थात् अज्ञान के वश जिसके आचरण से सुख-प्राप्ति की मृग-मरीचिका में मनुष्य लौकिक दुःखों में ही भटकता हुआ दिव्य पारलौकिक उपलब्धियों से वञ्चित रह जाता है, उस का नाम अकर्तव्य है तथा उसकी धारणा को अधर्म कहते हैं। कर्तव्य और धर्म जीव

को सद्गति की ओर ले जाकर सुखी बनाता है तथा अकर्म और अधर्म उसको अधोगति की ओर लेजाकर दुःखी बनाता है।

ब्रह्मचर्य के आचरण के बिना लौकिक कल्याण की प्राप्ति किसी भी तरह संभव नहीं हो सकती। शुक्र की निर्मलता और पुष्टि से ज्ञानवान्, बलवान् और दीर्घजीवी सन्तान पैदा होती है तथा राष्ट्र सबल बनता है। उत्तम शुक्र के प्रभाव से उत्तम सन्तान होती है और उत्तम समाज बनता है। गाय आदि उत्तम पशुओं से समाज का उत्तम पोषण करने वाले दूध, दही, मक्खन, छाछ, घृत आदि उत्तम भोजन मिलते हैं। उत्तम बीजों में वनस्पतियों के जो शुक्र होते हैं, उनसे उत्तम फल-फूल, कन्द-मूल पैदा करने वाली उत्तम वनस्पतियाँ पैदा होती हैं; जो जीवों के लिए उत्तम आहार हैं।

लौकिक कल्याण के साथ-साथ निर्मल ब्रह्मचर्य पारलौकिक कल्याण का भी दाता है। भारतीय सभ्यता में इसी आधार पर स्त्रियाँ पुरुषों को पतिदेव मानती हैं, क्योंकि शुक्र की दिव्यता से ही लौकिक-पारलौकिक सुख रूपी दिव्यता उनको प्राप्त होती है। लौकिक और पारलौकिक दिव्यता की प्राप्ति की इच्छा वाली कल्याणी स्त्रियों को भारतीय शास्त्रों में देवी कहते हैं। निर्मल शुक्र के रक्षणार्थ पुरुषों की दृढ़ प्रतिज्ञा को व्रत कहते हैं और जो कल्याणी देवियां दृढ़ता से अपने ब्रह्मचर्य द्वारा पतियों के पवित्र व्रत की रक्षा करने में सहायक होती हैं, वे पतिव्रता कहलाती हैं।

विषयी और व्यभिचारी स्त्रियों के पति ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने में असमर्थ होते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना शुक्र दूषित हो जाता है। शुक्र के दूषित होने से उन स्त्रियों के पति रोगी, निर्बल आलसी, कायर और कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से हीन होकर अल्पायु में ही नारकीय यातनाओं से घिर जाते हैं। ऐसे पुरुषों के सम्पर्क से स्त्रियों को पुष्टि-तुष्टि प्राप्त नहीं हो सकती और न सन्तान ही प्राप्त होती है। यदि किसी प्रकार दूषित शुक्र से सन्तान पैदा हो भी गई, तो वह और अधिक दुःख का ही कारण बनती है। प्रथम तो ऐसी सन्तान गर्भ से बाहर आने में असमर्थ होने के कारण अपनी माता को प्रसवकाल में ही मृत्यु-दण्ड देने का कारण बनती है। यदि ऐसी सन्तान किसी तरह पैदा हो भी गई, तो प्रसव के समय मृत्यु के समान दुसह वेदना तो प्रदान करती ही है। पैदा होने पर वह रोगी बनकर माता-पिता को सदैव दुःखी बनाये रखती है और अल्पायु होने से शीघ्र ही मर कर सन्तति-वियोग का दारुण दुःख देने का कारण बनती है। माताएँ बार-बार ऐसी सन्तान पैदा होने से असह्य दुःखों से घिर कर नरक की यातनायें भोगती रहती हैं। यदि ऐसी सन्तान किसी प्रकार कुछ काल तक जीवित भी रह जाये, तो वह जन्म भर रोगी, बलहीन, आलसी, चिन्तित पुरुषार्थहीन, दरिद्र, पराश्रयी, मूर्ख, कायर, दुष्कर्मी तथा धूर्त बनकर कुल, वंश और राष्ट्र को कलंकित करने का ही कारण बनती है। इस प्रकार की सन्तान से वंश का नाश

होता है और राष्ट्र पराधीन होकर आत्म-विस्मृत बन जाता है।

ऐसे मनुष्य जीव जन्मभर पालतू पशुओं की भांति जीवन-निर्वाह की चिन्ता में ही डूबे रहते हैं तथा केवल उदर-पूर्ति के लिए ही अपने शासकों की कृपा और दया के भिखारी बने रहते हैं। दूसरों की अधीनता में रहते-रहते उनका घोर पतन हो जाता है और वे पालतू पशुओं की भांति कर्तव्य और अकर्तव्य समझने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसे पशुवत् मनुष्यों को अपने कल्याण का लेशमात्र ज्ञान भी कैसे हो सकता है? अज्ञान के वश ऐसे मूर्ख जीव जीवनभर पतन की ओर बढ़ते रहते हैं। वे अभिमान और अज्ञान के वश कर्तव्य और धर्म को ढोंग समझते हैं। इस प्रकार अपनी सद्गति का मार्ग बन्द करके वे दुर्गति की ओर ही बढ़ते चले जाते जाते हैं और अन्त में रौरव-पीड़ाओं के बन्धनों से जकड़ जाते हैं।

ऐसे कल्याणविमुख मनुष्यों को यदि किसी प्रकार साक्षरता, पद और प्रतिष्ठा प्राप्त हो जावे, तो वे स्वार्थवश अपनी धूर्तता से समाज को अनेक भय दिखाकर दुःखी करते हैं। ऐसे पातकी जनों का नाम दानव है। कर्तव्य और धर्म का दमन करने वाले को दानव कहते हैं। विद्या के रहस्य को न जानने वाले मिथ्या अक्षराभिमानी दानव कुतर्क द्वारा, पद के रहस्य को न समझने वाले कर्तव्यच्युत मिथ्या पदाभिमानी दानव दुर्दमन द्वारा और प्रतिष्ठा के महत्त्व को न जानने वाले मिथ्या

प्रतिष्ठाभिमानी दानव अन्ध-विश्वास द्वारा सर्व साधारण को सत्वर घोर पतन की ओर ले जाते हैं। पतन की गति तेज होती है। अंधकार के आवरण से आच्छादित बुद्धि वाले वे विवेकहीन मनुष्य कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य तथा धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते हैं। ऐसे मानवरूप दानव अपनी जीवन-यात्रा में कर्तव्य और धर्म के विमुख आचरण करते हुए सुख की इच्छा से अनेक कष्टों में पड़कर दुःख भोगते हैं। इस तरह वे लोक-परलोक में अनेक यातनाओं के शिकार बने रहते हैं।

इसलिए कल्याणी देवियाँ विषयों को विष के समान समझ कर अपने और अपने गृहस्थ के कल्याण के लिए अमृत के सदृश्य पातिव्रत-धर्म का प्रसन्नता पूर्वक सेवन करती हैं और अपने पवित्र व्रत से पति को धर्मात्मा बनाकर कर्तव्य एवं पवित्र ब्रह्मचर्य-पथ की ओर अग्रसर करती हैं, जिससे पुरुषों का शुक्र सूर्य के समान प्रकाशमय और तेजस्वी बन जाता है।

कल्याणी देवियों के पातिव्रत के प्रभाव से रज की कलाएँ चन्द्र-कलाओं की भांति प्रकाशित और सृजन-रूपा बन जाती हैं। उन कल्याणी देवियों और पुरुषों के संयोग से (उन के रज और शुक्र की उज्ज्वलता से) उत्पन्न होने वाली सन्तानें सनक-सनन्दन, नारद, पातञ्जलि, कपिल, पाणिनि, बृहस्पति, अगस्त, भृगु, भारद्वाज, परशुराम, सूर्यवंशी राम, बुद्ध और

कृष्ण के समान तेजस्वी, ज्ञानी एवं प्रतापी पैदा होकर लौकिक और पारलौकिक परम कल्याण को प्राप्त करती हैं।

१ स्त्रियों की योनियों में रजस्वला-स्नान से ७ दिन के उपरान्त चौदहवें दिन तक प्रतिदिन उज्ज्वल रज की वृद्धि इस प्रकार होती है, जैसे कृष्णपक्ष की समाप्ति के उपरान्त चन्द्र-बिम्ब पर प्रकाश की कलाएँ प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती हैं। इसलिए तेजस्वी और कल्याणी सन्तान को पैदा करने के लिए विवेकशील पुरुष-स्त्रियों को रजस्वला-स्नान से ७ दिन के पश्चात् १४ दिन तक सम्पर्क करना उचित है। उन सात दिनों के ही अन्दर केवल सन्तान के निमित्त सम्भोग करने वाले पुरुष और स्त्रियों की दिव्य शक्तियां नष्ट नहीं होतीं, क्योंकि उन दिनों रज की उज्ज्वल कलाएँ चन्द्रकलाओं के समान अमृत-रूप बनकर कल्याणी और सृजन-स्वरूपा बनी रहती हैं।

कल्याणी सन्तानों की वृद्धि से यह मृत्युलोक पृथ्वी भी स्वर्ग-सी बन जाती है। तभी तो ऐसी सन्तान पैदा करने वाली पतिव्रता देवियाँ भारतीय सभ्यता में वन्दनीय और पूज्य मानी जाती हैं। ये देवियाँ लौकिक कल्याण को प्राप्त करती हुई, इस पृथ्वी पर अपनी अमर कीर्ति को छोड़कर, स्वेच्छा से पारलौकिक सत्यादि लोकों के अमरत्व को प्राप्त करती हैं और उनके पतिदेव भी इसी प्रकार पृथ्वी पर स्वेच्छया अपनी अमर

कीर्ति को छोड़कर,. निर्मल ब्रह्मचर्य के प्रभाव से, ब्रह्मलोक अर्थात् पूर्णब्रह्म परमात्मा के अमरत्व को प्राप्त करते हैं।

पूर्णब्रह्म परमात्मा में सत्यलोक के आकार में पतिव्रता देवियाँ अपने पतियों के सम्पर्क में दिव्य भोगों को भोगती हैं, क्योंकि परमात्मा तथा सत्यलोक आधार और आधेय अथवा विश्व-विराट् की आत्मा और बुद्धि के रूप में संयुक्त रहते हैं। विश्व-कल्याण के लिए वहां उनका अमरत्व एवं संयोग बना रहता है।

पृथ्वी पर जो स्त्रियाँ अज्ञान के वश विषय-रूपी विष में आनन्द समझती हैं, वे अपनी और अपने पति की दिव्य शक्तियों को नष्ट करती हुई अकल्याण की ओर बढ़ती हैं तथा व्यभिचार से अपने कुल, वंश और समाज को नरक बना देती हैं। कर्तव्यहीन व्यभिचारी पुरुष अनेक स्त्रियों से और व्यभिचारी स्त्रियाँ अनेक पुरुषों से भोग की इच्छा रखते हैं। उनकी उपमा पशुओं से भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि पशु भी उत्पत्ति-कर्म के अतिरिक्त भोग नहीं करते। व्यभिचारी पुरुष-स्त्रियाँ घोर दुःख और घृणा के पात्र बनकर, इस पृथ्वी पर भी नरक की यातनाएँ भोगते हुए, अल्पायु में ही इच्छा के विरुद्ध मृत्यु के मुँह में पहुंचकर रौरव नरकों में जाते हैं।

परागकेशर का भाग खाद्य वनस्पतियों द्वारा रज में परिणित होकर मृत्युलोक पृथ्वी में जीव का आवरण बनता है, क्योंकि वह कारण-जीव को पृथ्वी पर आने पर खाद्य वनस्पतियों द्वारा

पृथ्वी सम्बन्धी तत्त्वों से प्राप्त होता है। अतएव मृत्यु के पश्चात् मनुष्यों का स्थूल शरीर मृत्युलोक पृथ्वी पर ही छूट जाता है। कारण-जीव चन्द्रलोक से मृत्युलोक पृथ्वी पर आता है। वह स्थूल शरीर के छूटने पर पुनः कारण-प्रकृति रूपा विषय-वासनाओं के आवरण में प्राणवायु द्वारा शीघ्र गति से चन्द्रलोक में पहुंचता है। काल के अटल नियन्त्रण और नियम द्वारा समान गुण-कर्म वाला समान गुण-कर्म वाले में ही पहुंचता है, इसलिए मृत्यु के पश्चात् कारण-जीव प्रकृति के कारण-लोक अथवा चन्द्रलोक में जाता है। वहाँ पहुंचने पर विषय-वासनाओं से लिप्त मूढ़ कारण-जीव अपने गुण-कर्म सम्बन्धी मूढ़ परागों में लिपट जाता है और फिर वे पराग कारण-जीव के आवरण बनते हैं। उन परागों के आवरण में फिर कारण-जीव पूर्व क्रमानुसार नियत अवधि में चन्द्रलोक से वायु द्वारा मृत्युलोक पृथ्वी की वनस्पतियों में उतर कर, आहारों के द्वारा अनेक जाग्रत जीवों के शुक्र-रज में परिणित होकर, अनेक प्राणियों के आवरण में पैदा होते हैं। वे पुरुष-भोग की इच्छा से पुरुष और स्त्री-भोग की इच्छा से स्त्री रूप में पैदा होते रहते हैं।

वनस्पतियों में यह स्वाभाविकता है कि उनको जिस प्रकार का प्राणी आहार के रूप में ग्रहण करता है, वे उसमें उसी के अनुरूप शारीरिक आवरण में परिणित होती हैं; क्योंकि जीव की सत्ता अपने आहारों में से अपने ही गुण-कर्म से सम्बन्धित

परागों को ग्रहण करती है। वे पराग उस जाति के पुरुष-प्राणियों में शुक्र और स्त्री-प्राणियों में रज की कलाएँ बनते हैं। काल के अटल नियन्त्रण और नियमन द्वारा प्रत्येक जीव अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव सम्बन्धी आहार करते हैं। विषय-वासनाओं से भ्रमित अज्ञानी कारण-जीव अपने जैसे संस्कारों वाले जीवों के आहार के साथ उनकी सत्ता में जागृत हो जाता है तथा फिर उनके शुक्र-रज के द्वारा पुरुष और स्त्री भेदों में जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी की समस्त खाद्य वनस्पतियाँ जीव की सत्ता से उसके बाह्य शारीरिक आवरण के रूप में एक ही प्रकार का शारीरिक निर्माण करती हैं, उसी प्रकार खाद्य पदार्थों द्वारा पहुँचने वाले सब सजातीय कारण-जीव आभ्यन्तर एक ही प्रकार के जाग्रत-जीव का निर्माण करते हैं अर्थात् एक ही प्रकार की जीवन-शक्ति प्रदान करते हैं। फिर वे जाग्रत जीवों के शुक्र और रज के द्वारा पुरुष-स्त्री भेदों में जन्म लेकर पृथक्-पृथक् होते रहते हैं। किन्तु अमङ्गलमय काल के अटल नियन्त्रण और नियमन द्वारा प्राणियों की मृत्यु के समय विरोधी गुण-कर्म वाला कारण-जीव मृत्यु का दूत बनकर खाद्य-पदार्थों से जाग्रत जीवों की सत्ता में पहुंचता है और जीवित सत्ता से उसका आकर्षण करके जीव की मृत्यु का कारण बनता है।

विषय-वासनाओं से भ्रमित अकल्याणी जीव इस मृत्युलोक पृथ्वी पर फिर पशु-पक्षी, थलचर, जलचर, नभचर आदि अनेक प्राणियों के आवरण में जन्म लेता हुआ, जीवन-मरण की चिन्ताओं से महा दुःखी होता हुआ, पतन की ओर जाता है।

प्राणीमात्र को अपनी रक्षा और जीवन के साधन प्राप्त करने की नित्य आवश्यकता होती है। इसलिए विशेष बुद्धिबल और भुजबल-धारी मनुष्य जीव की अपेक्षा साधारण बुद्धिबल वाले भुजबल रहित गाय, भैंस आदि चतुष्पद जीव अपनी रक्षा और जीवन-साधन प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। शारीरिक बल वाले सिंह, हाथी आदि चतुष्पद जीवों की अपेक्षा पक्षी आदि जीव अपनी रक्षा और जीवन-साधन प्राप्त करने में और अधिक असमर्थ होते हैं। पंख-बल वाले पक्षी आदि जीवों की अपेक्षा पंख, भुजा और पैर रहित सर्प आदि जीव अपनी रक्षा और जीवन-साधन प्राप्त करने में और भी अधिक असमर्थ होते हैं। उनकी भी अपेक्षा उल्लू आदि रात्रिचर पक्षी जीव अपनी रक्षा तथा जीवन-साधन प्राप्त करने में अधिक असमर्थ होते हैं, क्योंकि उनके नेत्र सूर्य के प्रकाश में भी नहीं देख सकते।

इस प्रकार अज्ञान के वश अकल्याणी जीव अपनी रक्षा और जीवन-साधन प्राप्त करने में असमर्थ होते-होते अन्त में प्रकाश से भी पृथक् हो जाते हैं और अन्धकार से आच्छादित

होकर रात्रिचर बन जाते हैं। तत्पश्चात् वे जीव मरकर इस पृथ्वी लोक को छोड़कर इस पृथ्वी की रात्रि से भी अधिक बड़ी-बड़ी और भयानक रात्रि वाले अतल, वितल, सुतल आदि घोर अन्धकार से आवृत्त लोकों में चले जाते हैं। उन लोकों में पृथ्वी से भी बड़े भयंकर घातक अकल्याणी जीव अनन्त काल तक जीवन-मरण के चक्र में घूमते हुए घोर दुःखों की यातनाएँ भोगते रहते हैं। इस प्रकार कर्तव्य और धर्म से विमुख अज्ञानी जीव लौकिक अकल्याण से पारलौकिक घोर यातनाओं के अन्धकार में जा पहुँचते हैं।

चतुर मनुष्य पतन की ओर ले जाने वाली साँसारिक विषय-वासनाओं में आसक्त नहीं होते और उनसे मुँह मोड़कर जीवमात्र के हित के लिए मन, वचन, कर्म से परम पुरुषार्थ करते हैं। उत्तम कर्म करने से मन में शान्ति अनुभव होती है। शान्ति के बिना सुख नहीं होता। इसलिए ज्ञानी मनुष्य सुख-शान्ति स्वरूप ब्रह्म की ओर निरन्तर बढ़ते रहते हैं। इस पृथ्वी पिण्ड पर थलचर, जलचर, नभचर आदि सब जीवों में मनुष्य ही ऐसा जीव है, जो शान्ति-रक्षा के लिए कर्तव्य और धर्म के महत्त्व को समझ सकता है और उनके द्वारा निर्मल पुरुषार्थ करके लौकिक और पारलौकिक सुख को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

मनुष्यों में स्थाई ज्ञान-बल होता है, जो थलचर, जलचर, नभचर आदि अन्य जीवों के लिए दुर्लभ है। बुद्धिहीन जीवों

में केवल शरीर-निर्वाह सम्बन्धी क्षणिक ज्ञान ही होता है, जिससे वे अपनी उदर-पूर्ति के लिए साधन ढूँढ़ते हैं। वे किसी भी प्रकार से इस नाश होने वाले शरीर के निर्वाह मात्र को ही शान्ति, सुख तथा पुरुषार्थ मान लेते हैं और शारीरिक भोगों के लिए ही सदैव अशान्त और दुःखी बने रहते हैं। ऐसे अज्ञानी जीव सुख-दुःख के रहस्यों को समझने में इस तरह भ्रमित रहते हैं, जिस तरह कामी जन शुक्र के दुरुपयोग को ही सुख समझ लेते हैं। अज्ञान का प्रभाव ही ऐसा होता है।

इस प्रकार का पतित जीव कभी अज्ञानी मनुष्यों के आवरण में, कभी हाथी, गाय, भैंस आदि चतुष्पदों के आवरण में, कभी गरुड़, कौवा आदि पक्षियों के आवरण में, कभी सर्पादि कीटों के आवरण में, कभी-कृमि और उन से भी छोटे-छोटे जन्तुओं के आवरण में और कभी अतल आदि घोर अन्धकार से आच्छादित लोकों के महा अज्ञानी जन्तुओं के आवरण में जन्म-जन्मान्तरों तक नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित होकर ह्रास अथवा पतन की ओर चलता रहता है।

जो इस पृथ्वी पर बड़े से बड़े और छोटे से छोटे जन्तुओं के रूप में दिखाई देता है, वह जीव कैसा है ? वह कर्तव्य और धर्म के द्वारा सूर्य और सूर्य को भी महानता प्रदान करने वाले पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर सकता है तथा अकर्म-अधर्म से पतित होते-होते घोर पतनावस्था में भी पहुँच सकता है।

जीव अग्नि के सदृश्य है। जिस तरह अग्नि बड़े, छोटे नाना प्रकार के रूपों और रङ्गों में दिखाई देता है, उसी तरह जीव भी इस पृथ्वी में बड़े से बड़े और छोटे से छोटे नाना प्रकार के शरीर, रंग, रूपों में दिखाई देता है। जिस तरह अग्नि अपनी अनुकूलता अथवा घृत, काष्ट आदि के संयोग से महान् से महान् शक्ति-रूप धारण कर के प्रज्वलित होती है और अपनी प्रतिकूलता से धीरे-धीरे बुझ जाती है, ठीक इसी प्रकार जीव की भी गति होती है। जीव की अनुकूलता ब्रह्मचर्य तथा उसकी साधन-सामग्री कर्तव्य और धर्म है। वह जितना अधिकाधिक निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उतना ही शक्तिशाली बनता है और अन्ततः पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत कर्तव्य एवं धर्म के प्रतिकूल आचरण करने से घोर नर्क में जा पहुंचता है। जीव की प्रतिकूलता व्यभिचार है तथा उसकी साधन-सामग्री है,—अकर्म और अधर्म! अज्ञानवश कर्तव्य और धर्म के प्रतिकूल आचरण करते रहने से अग्नि के समान निरन्तर बुझता हुआ जीव अन्ततः इतना शक्तिहीन हो जाता है कि अपनी रक्षा तथा अपने जीवन के साधन प्राप्त करने में भी असमर्थ हो जाता है।

पहले वर्णन हो चुका है कि इस पृथ्वी में प्राणी प्रकृति के तीन प्रकार के आवरणों से आवृत्त होता है अर्थात् सूक्ष्म, कारण और स्थूल। महा और सूक्ष्म प्रकृति से बुद्धि के रूप में

जीव ज्ञान और अज्ञान द्वारा सूक्ष्म आवरणों से आवृत्त होता है। कारण-प्रकृति-रूप चन्द्रलोक, वासनाओं और स्थूल-प्रकृति-रूप पृथ्वीलोक में जीव खाद्य वनस्पतियों द्वारा रज के रूपान्तर चर्म, माँस, रुधिर, हड्डी के स्थूल आवरण से आवृत्त रहता है। जिस प्रकार प्रतिपदा से चतुर्दशी तक चौदह प्रकार के चन्द्रबिम्बों में भिन्न-भिन्न प्रकाश और अन्धकार से मिश्रित चौदह प्रकार की चन्द्रकलाएँ होती हैं, उसी प्रकार विश्व-विराट् की निर्माता महाप्रकृति और प्राणियों के स्थूल शरीर की निर्माता माता की योनि में प्रकाश और अन्धकार से मिश्रित भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाएँ होती हैं।

सूक्ष्म और महाप्रकृति, जो विश्व-विराट् के चौदह लोकों में भिन्न-भिन्न ७ प्रकार के प्रकाश और ७ प्रकार के अन्धकारों का निर्माण करती है, वह बुद्धि के रूप में ७ प्रकार के प्रकाशों से सूक्ष्म जीव के ७ प्रकार के ज्ञान और ७ प्रकार के अन्धकारों से ७ प्रकार के अज्ञान आवरणों का निर्माण करती है। महा-प्रकृति के ७ प्रकार के प्रकाशों और बुद्धि के ७ प्रकार के ज्ञानों के नाम—सत्य, तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः हैं और महा-प्रकृति के ७ प्रकार के अन्धकारों और बुद्धि के ७ प्रकार के अज्ञानों के नाम—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल हैं। कारण प्रकृति रूपा चौदह प्रकार की चन्द्रकलाएँ शुभ-अशुभ वासनायुक्त सूक्ष्म परागों द्वारा कारण-जीव के आवरण का निर्माण करती हैं। यद्यपि जीव में

शुभाशुभ अनन्त वासनाएँ होती हैं तथापि वे सब ७ प्रकार की शुभ और ७ प्रकार की अशुभ वासनाओं के अन्तर्गत ही होती हैं अथवा सत्य-प्राप्ति, सत्य-चिन्तन, विकारों से विरति, सत्यासत्य विवेक, परोपकार, पवित्र आचरण और उत्तम कर्म,—इनको प्रेरित करने वाली ७ प्रकार की वासनाएँ शुभ होती हैं, क्योंकि ये कर्तव्य और धर्म की सहायक हैं। अभिमान, क्रोध, लोभ, विश्वासघात, मोह, असत्-प्रेम और घातकता,—इनको प्रेरित करने वाली ७ प्रकार की वासनाएँ अशुभ होती हैं, क्योंकि ये अकर्म और अधर्म की सहायक होती हैं।

पृथ्वी में स्थूल प्रकृति रूपा माता की योनि की चौदह प्रकार की कलाएँ रज के रूप में गर्भकेशर आदि स्थूल तत्त्वों द्वारा चर्म, मांस, रुधिर और हड्डी आदि से जीव के स्थूल शरीर-आवरण का निर्माण करती हैं। मनुष्यादि जीव स्थूल शरीर में भिन्न-भिन्न ज्ञान और अज्ञानों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की वासनाओं से प्रेरित होकर अपनी जीवन-यात्रा में कर्तव्य और अकर्तव्य-मार्गों पर चलते हुए कल्याण तथा अकल्याण को प्राप्त करते हैं।

अशुभ मार्ग पर चलने वाला कल्याण-विमुख मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा में अनेक दुष्कर्मों को करता हुआ मृत्यु के पश्चात् अशुभ वासनाओं से आवृत्त होकर चन्द्रलोक में पहुँचता है। वहां से मृत्युलोक से सम्बन्धित अशुभ वासनाओं से फिर

बार-बार मृत्युलोक के अज्ञानी जीवों में जन्म लेकर कठिन दुःखों को भोगता हुआ अन्त में महा अशुभ वासनाओं के आवरण में अशुभ चन्द्रलोक में पहुंचता है। वहां से वह फिर महाप्रकृति के घोर अन्धकार-युक्त लोकों में जाता है। वहाँ जीव अनन्त समय तक महा कठिन दुःखों से पीड़ित होता रहता है, क्योंकि अधिकाधिक अन्धकार का रूपान्तर अधिकाधिक अज्ञान और अधिकाधिक अज्ञान का रूपान्तर अधिकाधिक दुःख होता है।'

कर्तव्य मार्ग में चलने वाला चतुर मनुष्य पावन वासनाओं से निर्मल ब्रह्मचर्य द्वारा बुद्धि को उत्तरोत्तर प्रकाशित करता रहता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा उत्तरोत्तर प्रकाशित होता रहता है तथा परमात्मा के प्रकाश से महाप्रकृति भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्य लोकों में उत्तरोत्तर प्रकाशित होती है, उसी प्रकार निर्मल ब्रह्मचर्य-व्रत से बुद्धि भूः, भुवः, स्वः महः, जनः, तपः, सत्य ज्ञानों द्वारा उत्तरोत्तर प्रकाशिन होती रहती है। उन प्रकाशों से कल्याणकामी मनुष्यों की बुद्धि सुख-दुःख के वास्तविक रहस्यों को पहचान लेती है। वे जीवन-यात्रा में शुभ कार्यों को करते हुए सुख की ओर बढ़ते हैं और अन्त में इस शरीर को मृत्युलोक में ही त्यागकर अनन्त में समा जाते हैं। भूवासना वाला कारणजीव भूवासना के आवरण में भू-चन्द्रलोकों में पहुँचता है और वहाँ से फिर भू-लोक अर्थात् पृथ्वीलोक में आकर उत्तम मनुष्यों

में जन्म लेता है। फिर वह उत्तम कार्यों द्वारा भुवः-ज्ञान प्राप्त करके मृत्युलोक के पदार्थों में विचरण करता हुआ अन्त में अपनी स्वेच्छा से इस नाशवान् शरीर को मृत्युलोक में त्यागकर प्राणवायु की गति से भुवः-ज्ञान के दिव्य आवरण में महाप्रकृति के दिव्य भुवःलोक में पहुंचता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर शुभ कर्मों को करने वाला मनुष्य उत्तरोत्तर स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य दिव्य ज्ञानों द्वारा लौकिक कल्याण को प्राप्त करता हुआ अन्त में स्वेच्छा से इस नाशवान शरीर को पृथ्वी में ही छोड़कर, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य दिव्य ज्ञानों के आवरण में, प्राणवायु की गति से अपने सदृश्य दिव्य चन्द्रलोकों में होता हुआ महाप्रकृति के स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य महा दिव्य लोकों में पहुंचता है और वहां उन लोकों के महान् सुखों से अनन्त समय तक महा सुखी बना रहता है। अधिकाधिक प्रकाश का स्वरूप अधिकाधिक ज्ञान और अधिकाधिक ज्ञान का रूपान्तर ही अधिकाधिक सुख होता है।

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य के बल से महात्माजन प्राणायाम में दायीं नासिका द्वारा प्राणवायु की नीची गति से शारीरिक तथा सांसारिक अज्ञानान्धकार को बाहर फेंकते हैं और फिर बायीं नासिका द्वारा प्राणवायु की ऊपरी गति से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य उत्तरोत्तर ज्ञानों के आवरण में इनके उत्तरोत्तर प्रकाशित लोकों में पहुंचते हैं और फिर निर्मल ब्रह्मचर्य-व्रत से महाप्रकृति को लांघकर सत्यलोक से भी ऊपर परमानन्द पूर्ण

ब्रह्म परमात्मा में पहुंच कर प्राणवायु की गति को स्थिर कर लेते हैं, उसी प्रकार कल्याणकामी जीव स्थूल शरीर को त्यागकर प्राणवायु की गति से दिव्य लोक-लोकान्तरों में होता हुआ निर्मल परमात्मा में पहुंचता है अर्थात् परमानन्द-कल्याणमय अमरत्त्व को प्राप्त करता है। उसी में जीव की पूर्ण तृप्ति होती है और उसी की खोज वह जन्म-जन्मान्तर करता रहता है। अतएव कर्तव्य की दृढ़ धारणा द्वारा ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ने से ही मनुष्य मात्र पारलौकिक और लौकिक कल्याण प्राप्त कर सकता है। पूर्णम् शुभम्।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

समाप्त